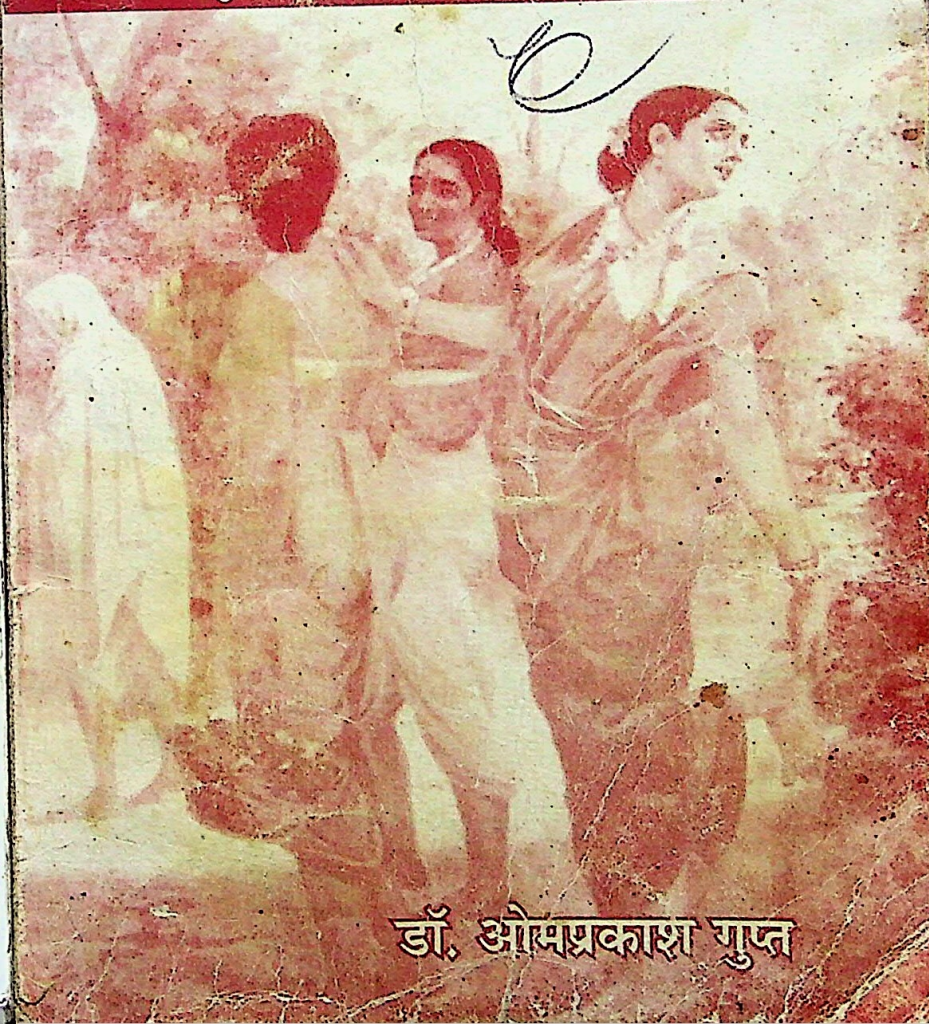


४४१६
५६०

शकुन्तलायन

शकुन्तला-आख्यान पर आधारित महाकाव्य



डॉ. ओमप्रकाश गुप्त



शकुन्तलायन

[शकुन्तला-आख्यान पर आधारित महाकाव्य]

डॉ. ओमप्रकाश गुप्त



राजपाल

शकुन्तलायन

डॉ. ओमप्रकाश गुप्त द्वारा

शकुन्तलायन

मूल्य : चालीस रुपये (Rs. 40.00)

प्रथम संस्करण : 2006 © डॉ. ओमप्रकाश गुप्त

ISBN : 81-7028-685-9

SHAKUNTLAYAN by Dr. Om Prakash Gupt

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006

अनुक्रम

| | |
|------------------------------------|-----|
| भूमिका | 5 |
| प्रथम सर्ग : विधि के आलेख | 9 |
| द्वितीय सर्ग : ममता के प्रत्यक्षण | 26 |
| तृतीय सर्ग : पुरुष-राग | 32 |
| चतुर्थ सर्ग : परिवार का इन्द्रधनुष | 42 |
| पंचम सर्ग : प्रश्न; केवल प्रश्न | 54 |
| षष्ठ सर्ग : विदा | 69 |
| सप्तम सर्ग : तुलसी-वन | 95 |
| अष्टम सर्ग : प्रकम्पन | 116 |
| नवम सर्ग : अन्तराल | 125 |
| दशम सर्ग : नवोदय | 132 |

भूमिका

आर्यावर्त की प्रज्ञा का अध्ययन, चिन्तन, मनन एक साधना है। यह साधना उस विराट चेतना की अनुभूति करवाती है जिस तक पहुँचने में विज्ञान असफल हो रहा है। स्यात् एक समय आए जब मन की भाँति, आत्मा और मानवीय चेतना भी विज्ञान की पहुँच में आ जाएँ। यह प्रज्ञात्मक चेतना भारतीय संस्कृति की ऐसी विशेषता है जिसे समझना, आत्मसात् करना प्रत्येक युग के मनीषियों के समक्ष गंभीर चुनौती बना रहा है। आधुनिक युग में यह चुनौती अधिक गंभीर है। हमने अपने ही सांस्कृतिक विराट को नकारना ज्ञान का चिह्न मान लिया है।

शकुन्तला एक नारी-चरित्र ही नहीं है; वह एक अजस्र सांस्कृतिक धरोहर का नाम है। वह नारी के नैसर्गिक गुणों की पुंजीभूत प्रतिकृति है किन्तु वह अपने आपको पुरुष की चेरी नहीं स्वीकारती। वह अपनी पहचान के प्रति सजग है। शकुन्तला विद्रोह भी करती है किन्तु सांस्कृतिक और सामाजिक विकास का उद्देश्य उसके प्रत्येक निर्णय का नियमन करता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से शकुन्तला की कथा एक पारिवारिक तथा सामाजिक मॉडल की स्थापना भले ही न कर पाई हो, यह इस दिशा में एक सबल प्रयास अवश्य है। सामाजिक व्यवस्था की खोज में ही मनुष्य ने राज्य तथा राजा नामी संस्थाओं का निर्माण किया। यह मानव-इतिहास की, विडम्बना ही है कि राजसत्ता से ही अराजकता का आरम्भ होता है। जनतन्त्र अब तक की सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्थाओं में श्रेष्ठ तो मानी जा सकती है किन्तु मनुष्य की सभी समस्याओं का समाधान इस कुंजी के पास ही नहीं है।

इतिहास, पुराण या मिथक का संप्रभु भारतीय प्रज्ञा के सन्दर्भ में अर्थहीन है। जहाँ इतिहास का क्षय हो जाता है, वहीं से मानव-प्रज्ञा पुराण की परिकल्पना करने लगती है। विश्व की सभी लोककथाएँ तथा पुराणकथाएँ काल के फलक पर बहुआयामीय हैं। यही इनकी अपार ऊर्जा का कारण है। इनके सन्दर्भ में 'अतीत' काल का मृद्भांड नहीं है, न ही वर्तमान की परिधि इनकी सीमा है, ये भविष्यवाणी भी करती हैं और तीनों कालों से परे रहकर विधिमाता की मुस्कान बनी रहती हैं। ये कथाएँ ऐसा चिन्तन हैं जो जीवन को देश और काल की सीमाओं से परे रखकर निरखता-परखता है।

मनुष्य का सौन्दर्य के प्रति आकर्षण नैसर्गिक प्रवृत्ति है। नर-नारी का आकर्षण पुरुष-प्रकृति का आदि आकर्षण है। किन्तु समाज का विकास एक वृहद् सांस्कृतिक अनुष्ठान के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। शकुन्तला और दुष्यन्त की कथा महाभारत में अलग है, कालिदास के अभिज्ञान में अलग है। दुर्वासा का शाप एक सामाजिक-राजनीतिक परिस्थिति के कारण उपजा था। मैंने विश्वामित्र, कण्व और दुर्वासा को एक ही दायित्व-बोध से बाँध दिया है। इस काव्य की शकुन्तला में पुरातन भारतीय नारी के समग्र माधुर्य के साथ, अपने व्यक्ति तथा समाज के प्रति कर्तव्य की सजग चेतना है। यही विशेषता भरत तथा अन्य पात्रों की भी है।

शकुन्तला के विषय में सोचते मुझे लगा कि पितृसत्तात्मक तथा मातृसत्तात्मक परिवारों का द्वन्द्व भी इस कथा में है। वृन्दाओं के विषय में भी अनेक धारणाएँ लोक में प्रचलित हैं। कैसा होगा वह समाज जहाँ पुरुषों का प्रवेश ही वर्जित हो? प्रस्तुत काव्य की प्रबन्ध-योजना में यह मेरी अपनी उद्भावना भी मानी जा सकती है। शकुन्तला-दुष्यन्त की कथा एक वैश्विक कथा-रूढ़ि है। ऐसी सभी कथाओं में अंधकार और प्रकाश का संघर्ष; प्रेयसी के रूप में उषा की प्रस्तुति...आदि आदि अभिप्राय बहुत-सी कथाओं के मूल हैं। भरत को मैंने इसी सन्दर्भ में अरुण मान लिया है। चर्खा कातने वाली बुढ़िया स्वयं में एक लोक-अभिप्राय (मोटिफ़) है। वह समय का चक्र घुमाती है। सुनहला सूत्र शुभ का चिह्नक है। शकुन्तला-भरत-दुष्यन्त की कथा को मैं इस निवेदन के साथ नए रूप में

प्रस्तुत कर रहा हूँ कि लोक उस भरत का साथ दे जो परिवर्तन का आकांक्षी है। राष्ट्र के आकाश में होने वाला अरुणोदय ही सभी जनों के जीवन में नव प्रभात ला सकता है। (५)

कुछ नए-चरित्रों का निर्माण नया नामकरण, पुरातन प्रारूपों में परिवर्तन—मेरे चिन्तन की विवशताएँ हैं। मैं एक कवि होने के साथ-साथ एक अध्यापक और एक अध्येयता भी हूँ। इसीलिए अपने ही लेखन में कहीं लोककथा के राजकुमार-राजकुमारी को मुस्कराते-खीजते देखता हूँ तो कहीं पुरूरवा-उर्वशी या मनु-श्रद्धा झाँकने लगते हैं। कभी यशपाल के उपन्यास 'अप्सरा का श्राप' की शकुन्तला उलाहना देने लगती है तो कभी नितान्त समकालीन सन्दर्भों से जुड़ी सच्चाइयाँ अन्तर्मन की वीथियों में ऐसे थिरक उठती हैं कि सारा 'स्व' एक विचित्र मौन में खो जाता है।

शकुन्तला हमारे नारी-सम्बन्धी चिन्तन का मार्ग प्रस्तुत करती है। वह उस संक्रमण की ओर संकेत करती है जिससे, जिसमें से नारी आदि युग से अब तक गुजरती आई है तथा जिसकी लिपि वह भविष्य के लिए आज भी लिख रही है। शकुन्तलायन, मेरी दृष्टि में हमारे समग्र समाज-सांस्कृतिक चिन्तन का, उसकी कड़वी-मीठी वास्तविकताओं का ऐसा आकलन है, जो अपनी केन्द्रीभूत ऊर्जा के कारण, इसे गतिशीलता प्रदान करता है। एक व्यवस्था को नकारना, नई व्यवस्थाओं की अनवरत खोज मनुष्य की विवशता है, उत्तरदायित्व भी। और इसी में मनुष्य की प्रगति का बीजमन्त्र अन्तर्निहित है।

—ओमप्रकाश गुप्त

—: प्रथम सर्ग :—

विधि के आलेख

हे माँ!

मनुज के भाग्य के सब लेख लिखती
किस कलम से?

किस कलम से, किस हृदय से?

भोगता रहता मनुज

और तुम निर्लिप्त रहतीं क्यों?

प्रश्न का उत्तर नहीं है।

बहुत सुन्दर था सवेरा

झूम कर संकेत करती थीं

हरी-भीगी लताएँ,

छेड़ जाती थीं तरंगें

बदन में चंचल हवाएँ,

इन्द्रधनुषी पंख फैलाए

विहग थे चिहुक जाते

और मृग-छौने कुदानें भर

गगन को माप लेते

तैरते कलहंस थे

कल्लोल करते सरित-जल में
पौ फटी थी
उड़ गयी थी ओस
पल में;
झुरमुटों की ओट में जाकर छुपा
सारा अंधेरा
बहुत सुन्दर था सवेरा! ✓

चर्म ओढ़े
एक तापस
था शिला पर यूँ खड़ा
ज्यों तपोवन की सुरक्षा—
का उसी पर भार है,
धधकता आनन था ज्यों
इस ओर भी
अंध तम का नाश करने
सूर्य इक तैयार है।
थी हृदय में कसक भारी
ब्रह्म-ऋषि कहला सकूँ,
त्याग कर सब राजसी सुख
एक सुख यह पा सकूँ।
मिट चले तरकश, धनुष के चिन्ह
कन्धों से मगर
'ब्रह्मऋषिवर'
यह सम्बोधन कान सुन पाए नहीं;
हे विधाता!
इस निगोड़े द्वन्द्व से
मैं मुक्ति पाऊँगा कहीं! ✓

✓ सोचते विखिन्न थे ऋषि
उस सुबह कुछ इस तरह
ज्यों चिरैया

X चंचु में भर अन्न का कण
घोंसले को आए फुर;
पर नीड़ का अवशेष भी पाए नहीं।

✓ उसी काल
सरिता-तटवर्ती पुष्पित कुंजस्थली जो
श्वेत शशों की प्रिय
मनमोहक
लगती बहुत भली जो;
उसी गली में
नर्तक बालाओं का दल इक दीखा
कौतुक से ऋषि ने देखा
निर्जन में दृश्य अनोखा!
चली आ रही थीं इठलाती
चंचल वे बालाएँ
सरिता के कलकल जल में ज्यों कलियाँ बहती आएँ।
किन्तु सत्य,
वे बालाएँ थी नहीं पावनी कलियाँ
अम्बर से मानो ढरकी थीं
अति कमनीय बिजलियाँ ✓

✓ देख उन्हें लज्जा से सकुचा जाती थीं वल्लरियाँ
स्वर्गलोक से आई थीं
विचरण करने अप्सरियाँ
अंग-अंग से लटक रही थी
श्वेत कुसुम की माला

सब के आगे सुधि खोई-सी
थी अति अल्हड़ बाला ।

और निकट आने पर
ऋषि ने देखा रूप अनोखा
मात्रं पवन के पट पर
विधि ने खींची कंचन-रेखा ।
कोमल पग किसलय पर
ऐसे थिरक-थिरक जाते थे
पंखुरियों पर
तितली के चंचल पर ही इतराते थे ।

लम्बे श्यामल केश
धरा तक सहसा बिखरे जाते,
घने मेघ मानों उड़ विधु की ऊँचाई पा लेते ।

देख पुरुष अनजान
रुक गई
ठिठक
दूर ही सखियाँ
ऋषि की अखियों से टकराईं
उस बाला की अखियाँ ।

तपे आग में अंग
भाल ऊँचा—
मानों पर्वत का,
चिन्तन की गरिमा आनन पर
दिपता दर्प राजसी कुल का ।

सम्मोहक नयनों में
नीलापन विस्तृत अम्बर का
झलक रहा
साँझल बादल-सा
काम-भाव अन्तर का। ✓

✓ “कौन सुन्दरी?”
ऋषि के मुख से
शब्द मनोहर निकले
मतवाला पादप
ज्यों कलिका पर
मँडराए, मचले।

झुके मृगी के नयन
अधर भी भूल गये कुछ कहना
ऋषि बोले—
“कितना सुन्दर तेरा ऐसे सकुचाना।” ✓

✓ कदम-कदम
धीरे-धीरे
ऋषि चले निकट तब आए
वनचर हुए चमत्कृत
सुमनों के गुच्छे बौराए। ✓

✓ मुख पर भोलापन
मानों
शशि से मधु बहता हो
गालों का गोरापन
हिम पर ज्यों अरुण झुका आता हो। ✓

सखियाँ छूट गयीं पीछे
विस्मृत विवेक-भय सारा
अनजाने पथ
चल पड़ी मेनका
ऋषि का लिए सहारा।

कामकेलि का मन्दिर बन गई
थी कुटिया तापस की
यज्ञ-पूत पवनें अब लगतीं
मदिर गंध-मादन की।

लज्जा-कारण
सखियों-सम्मुख अब
नहीं मेनका जाती;
“होगा क्या परिणाम”
सोचकर सखियाँ थीं घबराती।

नहीं विलग होते
क्षण भर भी
प्रेमी थे मतवारे,
प्रणय-केलि में बीत गये
जाने कितने पखवारे।

सहसा ऋषि ने जाना—
अल्हड़ कली लगी मुझाने
क्या से क्या हो गया
निमिष में
जाने या अनजाने!
हर्ष अमित—

✓ फलवती लगी होने
कदम्ब की डाली
सौभाग्य समझने लगी मेनका
माता बनने वाली ।

किन्तु सोचकर,
सारा यह
रिश्ता अवैध निन्दित है,
नारी तो वैसे भी
जग में
पग-पग पर लांछित है;
अधरों की मुस्कान
निराशा के नभ में खो जाती
भरती ठण्डी साँस मेनका
खोई-खोई रहती । ✓

यज्ञ-कुण्ड ठण्डा
मानो
ऋषि को दिन-रात बुलाता,
विश्वामित्र का हृदय,
क्षोभ-ज्वाला में जलता जाता ।
जभी बात सारी
वन के तप-व्रती जान पाएँगे,
“विश्वामित्र गिर गये
तपस्या से”
कहते जाएँगे!
“राज्य छोड़
बनने आया था

वन में

भला तपस्वी!

इस पथ पर चल पाता कोई-

कोई मनुज मनस्वी!

भोग-कीच में गिरा

ब्रह्म-ऋषि बनने को पगलाया,

हाय! तपोवन में भी इसने

नीच भाव दिखलाया !” ✓

✓ सखियों ने सोचा

विकल्प क्या?

लौट चलें हम घर को

और मेनका

रहे धरा पर

सब सुख-दुःख सहने को।

लेकिन अभी रुके रहना है।

देखें क्या होता है।

धरती का नर नारी को

कितना सुख-दुःख देता है। ✓

✓ एक दिवस

पौ फटी

झरोखे से किरणें मुस्काईं

और मेनका ने

करवट बदली,

आँखें झपकाईं।

खाली शैया

✓ वहाँ नहीं थे
प्रियतम;

कुटिया सूनी...!
“चले गये सरिता-तट
या फिर
याद आ गयी धूनी?
बुरी बनी है उनकी आदत
व्यर्थ छकाते रहना
चुपके-चुपके
कहीं छुपे रह
मुझे निरखते जाना।”
उठी, द्वार के बाहर देखा
हरसिंगार झरे थे
और रात की रानी की
आँखों में अश्रु भरे थे। ✓

✓ प्रांगण में भी नहीं
कौशिकी-तट पर भी
प्रियतम नहीं!
हुई दुपहरी
पर न दीखी—
ऋषि की झलक कहीं!

✓ हृदय बिलखता
कण्ठ प्यास से सूखा जाता
उदर फरकता
नयनों में

जल भर-भर आता ।
डगमग करते पैर
दृश्य धुँधुआते लगते
गूँज-गूँज कानों को अपने ही स्वर उगते ।
पाँव-पाँव
लगता था उसको
मन-मन भारी,
मूर्च्छित हो कर गिरी
अहो!
कलिका-सी भोली नारी!

आश्चर्यचकित हो लगे कूकने
पक्षी सारे,
मौन खड़े रह गये
हिरन-शावक बेचारे ।
कोलाहल सुन
अप्सरियों के मन में चिन्ता छाई
निकट कहीं पर
आज घटी भयकारी घटना कोई ।

चले आ रहे
पशु-पक्षी
जिस ओर
अमित आतुर हो
अप्सरियाँ भी चलीं
मनातीं—
सब हित सब सुखकर हो ।

हृदय-विदारक दृश्य देख
कुछ रही मौन हो सखियाँ

✓ अधरों पर रोदन था कुछ के
नीर बहाती अखियाँ।
कुछ सुधि को सायास सँभाले
सखि को लगीं बुलाने
छाया में
किसलय पर रखकर
आँचल लगीं झुलाने।
कदली-पल्लव के दोने में
रम्भा जल भर लाई,
धीरे-धीरे
बूँद-बूँद सखि के मुख में टपकाई। ✓

✓ बीत गए पल चार
मेनका ने तब आँखें खोलीं
“चले गये ऋषि छोड़ मुझे?”
अति धीरे-धीरे बोली। ✓

✓ ऐसा ही होना था
ऐसा ही होता आया है।
कभी पुरुष कोई
नारी का साथ निभा पाया है?
छली पुरुष के कुटिल जाल में
भोली बाला फँस जाती;
समय बीत जाने पर
बस पछताती रोती रहती!
धरती का हर नियम
पुरुष अपने हित स्वयं बनाता
नारी-जीवन से खेला करता,
मधु पीता,

चल देता!
नारी का—
वह समझा करता—
अपना नहीं हृदय है,
धरती पर बसने वाला
यह पुरुष बड़ा निर्दय है,
अनब्याही हर गन्ध सूँघ कर
सफल-मनोरथ बनता
हर कोंपल को तोड़-मसल
नर हँसता, हर्षित होता। ✓

✓ नारी ने वरदान समझ
रचना का धर्म सँभाला
वही धर्म उसके कर देता
विष का कड़वा प्याला
प्रेमी बन
नारी-यौवन की मदिरा नर पी जाता,
और फेंक देता धूरे पर
चषक सुरा से रीता। ✓

व्यभिचारिणी तुम्हें कहेंगे
जग के नर और नारी,
तेरे बालक-हित
विपत्तियाँ फन फैलाए सारी।
इस धरती पर
पुरुषों ने अब शास्त्र बदल डाला है।
वंश-शृंखला से
माता का नाम काट डाला है।
शिशु अब माँ से नहीं

पिता से ही जाना जाएगा,
तेरा शिशु धरती पर कैसे
सोचो, जी पाएगा!

यह जो विवाह-संस्कार
मनुष्यों ने
धरती पे गढ़ा है,
इसमें भी नारी के पल्ले
मात्र अन्याय पड़ा है।
पुरुष सजा लेता
शैया पर
नारी नित्य नवेली;
और सती का धर्म
पालती रहती
वधू अकेली।
और मेनका
नियमों से
है नहीं ब्याहता नारी
उस के हित अवरुद्ध
नियम की अँधी
गलियाँ सारी।

तो क्या हम भी त्याग उसे
अपने पथ चल जाएँ
या रुक यहीं
खेल और कुछ दिन
विधना का देखें।

काल-चक्र चलता जाता

कब रुका किसी के रोके?
शुभ कार्य यहाँ कोई-कोई
पग पग पर छल और धोखे!

✓ दिवस बीतते गए
मेनका बनी
सुता की माता
नारी-जीवन की माप
कब कर सका
किस युग में भाग्य-विधाता?
एक प्रसव की पीड़
मन में विक्षोभ भरा लौछन का,
चिन्ता—
क्या होगा धरती पर
इस नन्हे जीवन का।
“मुझ पर दूटें वज्र
सुखी जीवन हो इसका
इसे सताए
कभी न झोंका
उष्ण पवन का।” ✓

✓ लेकिन अप्सरियों ने अपना कर्म-धर्म पहचाना
धरती के जंजालों में अधिक उलझना
अनुचित जाना।
सुनी न माँ की एक
छीन ली बिटिया प्यारी
स्तन भी मुख में
दे न पाई
माँ बेचारी!

“मर जाओगी यहाँ
नहीं सुध कोई लेगा
धरती पर हर कोई तुमको
पतित कहेगा।

बना रहे यह भेद
बात न बाहर निकले
वज्र गिराए आग
पाँव-तर पाहन पिघलें। ✓

नयनों से धारा बरसाती
अति विवश मेनका
असहाय बन
रही देखती
खेल समय का।

चली गयीं अप्सरियाँ
ले कर संग सहेली
कानन में रह गयी बालिका पड़ी अकेली।
बाँहों में ले कौन इसे दुलराए, पुचकारेगा
ममता से गोदी में भर मीठी लोरी गाएगा! ✓

माता द्वारा त्यक्त
बालिका के रोदन ने
प्रकृति की ममता को
आलोड़ित कर डाला।
नीले नभ ने
शीतल पवन झकोरे भेजे
रजनी ने ओढ़ाया

मणिमय आँचल काला!
फैल गयी हर ओर
चाँदनी गोरी-गोरी
झीम-झीम
झींगुर भी लगे सुनाने लोरी।
निर्जन में
लघु कला चन्द्र की सोई ऐसे
श्वेत कमल-दल पर
शीशे का मोती जैसे। ✓

✓ कौन जानता
कैसा कल हो आने वाला,
सब करते विश्राम,
दूर है अभी उजाला।

विषम नियम कितना विधना का
मलिन व्यवस्था में भी
किसी हृदय में
शुद्ध प्यार का दीप जला करता है;
भटका मानव
इसकी मद्धम-सी किरणों में
सुलझाता उलझाव,
पंथ खोजा करता है। ✓

✓ हर संध्या के बाद शर्वरी,
उसके बाद उजाला
उषा जागती अँगड़ाई ले
मिट जाता तम काला
अरुण सूर्य में यहाँ बदलता,

सूरज सांध्य क्षितिज में—
सो जाती दोपहर धधक कर,
तारे घिरते नभ में।
डोंगी ले चाँदनी निकलती
उस पार कहीं जा सोती
मुस्काता फिर पूर्व दिशा के
शीशफूल का मोती। ✓

✓ कहते हैं—इक खूसट बुढ़िया
चरखा ले बैठी रहती
चक्र चलाती, सूत बनाती,
धीमे-धीमे कुछ गाती।
परिवर्तित होते चित्र ✓
सृष्टि की विस्तृत चित्र-पटी के,
खाली होते, भरते जाते
पल-दिन काल-घटी के।

—: द्वितीय सर्ग :—

ममता के प्रत्यक्षण

मनुष्य सृष्टि में
जीवित रहता
किस आश्रय से?
ईश्वर-इच्छा से
या फिर
अपने ही अन्तर की
नैसर्गिक किसी भूख से? ✓

भोर का तारा उगा, आलोक निखरा,
स्पर्श पा नव पवन का हर नीड़ सिहरा ।
सिमटता जाता अँधेरा झुरमुटों में,
अपना-अपना रंग ले हर रूप निखरा ॥

निरख धरती का रूपहला रूप कोई...
यक्षिनी नभ की नदी के तीर खोई ।
हरित दूबों पर छिटक कर ओस के कण
तारिकाएँ ओढ़ नीला मौन सोई ॥
और करता भंग सारा मौन वन का

स्वर कहीं से गूँजता शिशु के रुदन का ।
चौंककर जागे सभी वन के पखेरू
छुप गया आलोक सारा ही गगन का ॥ ✓

✓ कुछ क्षणों के बाद बिखरी किन्तु लाली
स्वर्ण-जल में भीगती सारी वनाली ।
नभ से मानो लुढ़क कर सब रंग बिखरे
पूर्व में दीखे सलोने अंशुमाली ॥

ओस के कण हर किरण के पैर धोते
शिष्य पा आशीष गुरु की धन्य होते ।
ईश का ले नाम नदिया को चले वे
ब्रह्मवेला की छटा सुन्दर निरखते ॥ ✓

✓ कण्व ऋषि के शिष्य जा पहुँचे वहाँ पर
त्यक्त शिशु नवजात रोता था जहाँ पर ।
चकित हो कर नयन उनके खोजते थे
कौन इस शिशु का पिता, है माँ कहाँ पर ॥

चोंच में भर जल शकुन सस्नेह लाते
और शिशु को मातृ-ममता से पिलाते ।
कण्व ऋषि के शिष्य विस्मित देखते थे
शकुन ताने पंख थे शिशु को रिझाते ॥ ✓

भाग कर इक शिष्य गुरु के पास आया
देख पाया था जो कुछ वह कह सुनाया ।
सब समझ कर, छोड़ आसन कण्व दौड़े
और ममता से सुता को उर लगाया ॥
बालिका पा कर हृदय शतदल खिला ।
स्नेह-जल से भीग हर पल्लव हिला ॥

शकुन पक्षी प्यार दे रक्षक बने—
इसलिए प्रिय काम्य नाम शकुन्तला ॥

✓ वन्य जीवन-रैन में आशा उगी,
फिर, विजन में कामना-बाती जगी।
कुन्द कलिका-सी सुकोमल बालिका
शुक्ल-पक्षी चाँद-सी बढ़ने लगी ॥

इक सुनहली किरण मोती में ढली थी,
हर हृदय की बालिका वह लाडली थी।
सृष्टिकर्ता की मधुर मुस्कान थी वह
या कि वीणा-वादिनी की काकली थी ॥

✓ तितलियों ने उड़ उसे चंचल बनाया,
राजहंसों ने उसे चलना सिखाया।
उसने भोलापन लिया मृगशावकों से
कूकती कोयल से स्वर-माधुर्य पाया ॥

गौतमी के नयन की पुतली बनी वह
कण्व के चित की मधुर चिन्ता घनी वह।
तोतले स्वर से सभी को थी रिझाती
साँझ का नूपुर, उषा की किंकिणी वह ॥

✓ साँझ ने उसको सिखायी लाज-गरिमा,
हर कदम की रात ने समझाई सीमा।
तारिकाओं ने बताए भेद सारे,
दी उषा की रश्मियों ने सकल सुषमा।
बन्द बेले की कली-सा बालपन भी
बह गया आया गुलाबी बाँकपन भी।

नरगिरी अन्दाज़ मादकता-भरा था
छेड़ता मुकुलावली में रुनझुनन-सी ॥

✓ जब कभी हो जाय कोई पक्षी घायल
वेदना से देखता हो कोई चीतल ।
झट से गोदी में उठा उपचार करती
अन्य के दुख से वह होती अमित आकुल ॥

चौकड़ी भर हिरन थे ममता जताते,
नाच कर उसको कलापी थे रिझाते
गुटरगूँ कर बात निज कहती कपोती,
काट कच्चे फल उसे शुक भी चिढ़ाते ॥

✓ जाग नित नीलाभ लहरें लाल होतीं,
फिर रुपहली फेन से निज अंग धोतीं ।
घूमती जाती धरा, अम्बर बदलता,
जगमगाते उड़डगन जब साँझ होती ॥

घूमता फिर आरती का थाल पीला,
मौन करता अर्चना आकाश नीला ।
देवता का हाथ उठ वरदान देता,
पर झुका रहता चरण में नभ हठीला ॥

✓ बैठ जाता आ हृदय पर मौन सारा,
प्रश्न करता टूट कर कोई सितारा ।
तुम नदी की भाग्य-हीना लहर ऐसी
मिल नहीं पाता जिसे कोई किनारा ॥
खेलते पग कलकलाती धार से थे,
नयन झुक जाते पलक के भार से थे ।

ऊर्मियों को व्यस्त हाथ उलीच देते,
बीतते क्षण, पल, दिवस निस्सार-से थे। ✓

✓ याद आ जाती उसे भूली कहानी,
एक था राजा, थी उसकी एक रानी।
बर्फ की प्रतिमा-सरीखी एक बिटिया
पर्वती जलधार-सी जिसकी जवानी ॥

रात भर अपने महल में जागती थी,
मन लगा रंगीन धागे कातती थी।
और बुनती वस्त्र कोमल उँगलियों से
भोर होने पर सभी को बाँटती थी ॥ ✓

✓ एक बुढ़िया को नहीं यह बात भायी,
टेकती लाठी महल के द्वार आई।
मन्त्र जादू का गुनी ऐसा कलूटी,
साँझ-की-सी धुन्ध चारों ओर छाई ॥

राजकुँवरी सो गयी, सोए भिखारी
सो गये सारे धरा के प्राण-धारी।
कन्दरा में सो गया सब शोर जा कर,
और घिर आई क्षितिज पे रैन करी ॥ ✓

✓ घाटियों को पाट, पर्वत लॉघ सारे,
तैर भुजबल से समन्दर सात खारे।
कंटकों पर चल, विजन में पथ बना कर
आ गया रवि रश्मियों के बाण धारे ॥
उँगलियों से कर दिये इक ओर कुन्तल,
थपथपा कर गाल चूमे होंठ शीतल।

छा गयी मुस्कान, पलकें मुस्कराईं
बिछ गया आलोक, भागा शाप पंकिल॥ ✓

✓
प्रकृति-पुरुष के आदि मोह का
सारा दर्शन
रचा मनुज ने स्वयं
कि या सृष्टिकर्ता की इच्छा का
है सीधा-सादा प्रत्यक्षण?
इस नदी के स्रोत तक
पहुँचें तो जानें—
सत्य क्या है,
क्यों है, कैसी है
यह बहती कल-कल धारा
क्यों बनती तूफान...?
सोच मन रहता हारा-हारा। ✓

—: तृतीय सर्ग :—

पुरुष-राग

कर्म की यह कौन-सी परिभाषा है
जो पुरुषत्व को आतंक का पर्याय बनाती है—
X युद्धों का नियामक ।
और उसे आततायी बना देती है
अपनी ही प्रेरणा-प्रिया के प्रति? X

✓ घर-घर-घर-घर सारा वनप्रान्त कँपाता
राजा का रथ बढ़ता आता धूल उड़ाता ॥

बिना लीक के पथ पर घोड़े दौड़े जाते ।
कुचले जाते पौधे, पक्षी शोर मचाते ॥

उजड़े जाते श्रम से पाले खेत सुहाने ।
भय के बादल लगे उल्लसित वन पर छाने ॥

व्याकुल मृग आश्रम में आश्रय पाने भागे ।
शर से घायल कितने ही मर गये अभागों ॥

स्वर्ण-जटित रथ पर राजसी ध्वजा फहरती ।
वनवासी भोले लोगों को विस्मित करती ॥ ✓

✓ राजा के पीछे आएँगे सैनिक सारे ।
कितना अत्याचार सहेंगे प्राण हमारे ॥

पनघट पर जल लाने जाना मुश्किल होगा ।
विधि दिखलाएँगे अब तक न देखा-भोगा ॥

किस तरह नारियाँ रक्खेंगी सम्मान सँभालें ।
हर झुरमुट में छिपे रहेंगे नाग विषैले ॥

जब तक राजा वन में रह आखेट करेंगे ।
युवक इकट्ठे हो सारे बेगार भरेंगे ॥

कुछ दिन रह कर लौटेंगे सब आने वाले ।
वन में रह जाएँगे कितने घाव-कसाले ॥ ✓

✓ युवक याद कर बार-बार अपनी कायरता ।
भुजदण्डों की माँसपेशियों की कातरता ॥

मर्यादा-तज वृद्धों का अपमान करेंगे ।
नित्य गाँव में नये नये उत्पात करेंगे ॥

पतियों से निन्दा लाँछिता नारियाँ सहेंगी ।
जलधारा में डूब अनेकों लाज ढकेंगी ॥

रात रात ही छोड़ गाँव-घर कुछ भागेंगी ।
और नगर की पणशाला में जा बैठेंगी ॥ ✓

✓ कुछ कहते युग से चलती आई मर्यादा ।
धरती पर अवतार ईश का होता राजा ॥

राजा का आमोद करें कर्त्तव्य हमारा ।
राजा देता अन्न वही भगवान हमारा ॥

राजा का रथ आते ही वनवासी सारे ।
चकित दृष्टि से निरख बुलाते थे जयकारे ॥

नयनों में सम्मान मगर मन में भय भारी ।
अगवानी में झुक-झुक पड़ते सब नर-नारी ॥

ईश्वर ऐसे ही लोगों को भूप बनाता ।
और जोड़ देता मालिक-सेवक का नाता ॥ ✓

✓ खींच कान तक डोर धनुष पर बाण चढ़ाए ।
राजा था, चंचल हिरनी पर आँख गड़ाए ॥

हिरनी थी या किसी ऐन्द्रजालिक की माया ।
आज निगोड़ी ने राजा को खूब छकाया ॥

दूर खड़ा तापस वर्जन का हाथ उठाए ।
पूछ रहा-तुम कौन, कहाँ से क्यों कर आए ॥

नृप की अखियाँ देख रहीं झुरमुट के पीछे ।
हिरनी को सहलाता कोई अखियाँ मीचे ॥

टिका हुआ था मोहक मुख हिरनी के तन पर ।
जैसे पूनम का चंदा, सावन के घन पर ॥ ✓

✓ हिरनी से थीं लिपटी बाँहें हिम-सी गोरी ।
घन-शावक को घेरे ज्यों बिजली की डोरी ॥

पलकें उठीं, खुलीं तीतरी की ज्यों पाँखें ।
झुरमुट से जुड़ गई भूप की लोभी आँखें ॥

तापस सोच रहे थे, है यह कौन अजनबी ।
इस तरह तपोवन में आया न कोई कभी-भी ॥ ✓

✓ खींच रास सायास सारथी ने रथ फेरा ।
राजा बोला—रहूँ यहीं कहता मन मेरा ॥

सारी चिन्ता भूल यहीं कुछ दिवस बिताऊँ ।
मुनियों की सेवा कर कोई पुण्य कमाऊँ ॥

समझ गया सब बात सारथी चतुर सयाना ।
नृप की आँखों में था मन का ताना-बाना ॥

कहीं न हों ये बालाएँ ऋषि की कन्याएँ ।
व्यर्थ भूप के लिए समस्या ही बन जाएँ ॥ ✓

✓ प्रतिदिन ही ऐसी घटनाएँ होती रहतीं ।
चल देते राजा बालाएँ रोती रहतीं ॥

मुनि-ब्राह्मण का कोप किन्तु अति दारुण होगा ।
वन-वन, नगर-नगर, नाहक अपयश फैलेगा ॥

ब्रह्मचारियों से पूछा फिर नीचे आकर ।
“कौन आप हैं, किसका है यह आश्रम मुनिवर ॥

नभ में हवि की गन्ध फैलकर बतलाती है ।
अग्निहोत्र की आग यहाँ जलती रहती है ॥” ✓

✓ “हम हैं तापस तात कण्व आचार्य हमारे ।
कहें कौन श्रीमान कहाँ से आप पधारे ॥”

“महाराज दुष्यन्त सकल धरती के स्वामी ।
देवराज के मित्र ब्राह्मणों के शुभ-कामी ॥

क्षात्र धर्म के हित आए आखेटक बनकर ।
किन्तु हुआ अनजाने में अपराध भयंकर ॥

आप धरा के देव क्षमा अपराध करेंगे ।
मुनि-सेवा के हेतु स्वयं नृप यहाँ रहेंगे ॥”

“नहीं गेह मुनिराज गये तीर्थाटन करने ।
अच्छी सुविधा बनी हृदय में सोचा नृप ने ॥” ✓

✓ “तब तो आश्रम की रक्षा हित रुकना होगा ।
ऋषि-ब्राह्मण की सेवा कर यश-लाभ करूँगा ॥”

“धन्य धन्य हे भूप आपका अभिनन्दन है ✓
आश्रम के चहुँ और सुखद मनहर कानन है ॥”

✓ “वन के बाहर से लौटा दो सेना सारी ।
सावधान, न दुःख पाए कोई वन-चारी ॥”

छोड़ भूप को चतुर सारथी ने रथ फेरा ।
और भूप ने लुब्ध नयन से कानन हेरा ॥

हर ओर बिछी थी मनमोहक सुन्दर हरियाली ।
शीतल सुरभित पवन छेड़ देता रोमाली ॥

फूलों पर उड़-उड़ जाती थीं मस्त तितलियाँ ।
खिलने को आतुर इठलतीं कोमल कलियाँ ॥

भँवरे गुन-गुन गाते, मधु पीते मन भरते ।
राजा के मन में उन्मादक भाव निखरते ॥

पथ दिखलाते मुनितापस थे आगे आगे ।
सोच रहे थे आज बने कितने बड़भागे ॥

✓ राजा बारम्बार प्रशंसा हित कुछ कहता ।
क्षण भर रुक सौन्दर्य निरखता फिर चल देता ॥

राजा को वन के सारे ही गुण बतलाए ।
वैखानस, हारीत नाम अपने जतलाए ॥

आध घड़ी में पहुँच गये कुटिया के द्वारे ।
अति व्याकुल थे राजा की आँखों के तारे ॥

✓ सोच रहे वैखानस हो कैसे पहुनाई ।
कौन जानता भूप हृदय में क्या कुटिलाई ॥

इतने में राजा को दीखी छटा छबीली ।
सुन्दर बालाएँ लता-कुँज से बाहर निकलीं ॥

लगा नील घन से चंदा की किरणें उतरीं ।
नारी-तन धर किसलय की शैया पर बिखरीं ॥

आगे आगे थी शकुन्तला वल्कल धारे ।
अनायास जुड़ गये युगल आँखों के तारे ॥

लगा निरखने नृप अपनी सुध-बुध बिसराए ।
बैखानस बोले—महाराज आश्रम में आए ॥

समझाया फिर बालाओं को निकट बुला कर ।
कुलमाता को सूचित कर दो फौरन जा कर ॥

पहुँच अतिथिशाला में राजा लगा सोचने ।
कौन कहे क्या लिखा रेख-धर निठुर भाग्य ने ॥

चाहे यश, चाहे अपयश ही पाऊँगा ।
निश्चित है इस वन-कलिका को ले जाऊँगा ॥

आह! हर्म्य की बढ़ जाएगी शोभा कितनी ।
हाथों में रख पिया करूँगा तरल चाँदनी ॥

सुधबुध खोए दोनों पारिजात के नीचे ।
पड़े रहेंगे सटे-सटे हम अखियाँ मीचे ॥

भोगी हैं मैंने भी कितनी राजकुँवरियाँ ।
यौवन की देहली पर रखती पग सुन्दरियाँ ॥

यह जंगल की कली, नयी इसकी रेखाएँ ।
कौन भ्रमर जिसके मन में न काम जगाएँ ॥

सारथी, मित्र सेनापति ने मिलकर समझाया ।
ऋषि-मुनियों के गुस्से से अवगत करवाया ॥

लेकिन राजा को समझाना बड़ा कठिन था ।
आज्ञा की अवहेलना करना संभव न था ॥

लौट गयी सेना, सेनापति मन्त्री सारे ।
उन्मुक्त विचरते कानन में प्रेमी मतवारे ॥

अनुसूया प्रियंवदा सजग हो गई सयानी ।
भोली बाला पर आती क्यों मस्त जवानी ॥

यौवन जब इक बार प्यार के पथ चल देता ।
हर बन्धन का तिरस्कार कर हर्षित होता । ✓

✓ भोली शकुन्तला सब विवेक खोकर अनजानी ।
राजा के आकर्षण में बँध गई दिवानी ॥

भूल गये दिन-रैन, उचित अनुचित दीवाने ।
लगी टूटने सीमाएँ जाने-अनजाने ॥ ✓

✓ कब तक अनुसूया प्रियंवदा भेद रख पातीं ।
अन्य नारियों से कब तक बातें छुप रहतीं ॥

कभी-कभी सखियाँ वृद्धों का भय दिखलातीं ।
यह पथ कितना दुखकर है उस को समझातीं ॥

हर बार समझती बात और वादा कर कहती ।
अब मैं राजा-संग नहीं जाऊंगी कभी भी ॥

पर जैसे ही निश्चित संकेतित क्षण आता ।
मन के सारे भय भुला देती शकुन्तला ॥

अन्धा प्रणय बना लेता नित नूतन राहें ।
पैर स्वयं चल देते तज सारी शंकाएँ ॥ ✓

✓ धीरे-धीरे पुरुषों तक पहुँची सच्चाई ।
समाधान न किन्तु सुझा पाता था कोई ॥

मन में भय, शंकाएँ और चिन्ताएँ लेकर ।
आँख मूँद कर रहे सभी अनजाने बनकर ॥

कहा गौतमी ने भी
कितनी बार उसे यूँ
सम्मान बिका जाता है
बेटी, कण्व पिता का
अपवाद भयंकर फैल रहा पूरी बस्ती में
और नष्ट हो रही है
सारी पावन मर्यादा ।
क्या उत्तर दूँगी मैं
जब भैया आएँगे?
तेरी करनी का मुझको
दोषी मानेंगे ।

धीरे-धीरे जान लिया सबने
नारी अब दूर जा चुकी है इतना...
लौटना नामुमकिन है !
जाने कब, किस तरह
वज्र-सा यह बरसेगा
अम्बर में जो घिरा
भाग्य का काला घन है! ✓

यह असमंजस,
यह प्रश्नावली है अन्तहीन । ✓

नैसर्गिक गति से परिचालित होता
रथ अनवरत समय का।

मनुष्य के मन का सारथी
रहे चिन्तनशील...

चिन्तन जो गति दे

४

मनुष्य की सामाजिकता को,
अर्थ दे मनुष्य के होने को
प्रकृति को मानवीय करना ही
मनुज का सांस्कृतिक अनुष्ठान है।

सत्त्वहीन कर, त्याग, राह अपनी चल देना ।
अगिनित विवाहित महिलाएँ
होंगी हर्म्य में
और तुझे तो छोड़ यहीं राजा चल देगा ।
समय बीतता जाएगा अपनी प्रकृति से
तेरे आँचल में कलंक ही शेष रहेगा ।
यदि यह सब करना है तो इतना तो कर ले ।
कह नृप से—
विधिवत फेंरे ले, ब्याह रचाए
और बना कर पटरानी
सम्मान तुझे दे
सारे जनपद में न व्यर्थ अपवाद फैलाए ।

नयी घाटियाँ खोज
पुरुष चल देता क्षण में
पर नारी लाँछित हो सहती कर्ष समय का
जीवन भर उसको घुट-घुट जीना होता है
सारा समाज पग-पग पर अपमानित करता है ।

‘ओह दीदी!’

कह कर शकुन्तला मुस्काती थी
अपने राजा हित न शब्द अप सुन सकती थी ।
उसको अपने प्रियतम पर विश्वास अमित था,
उसके वचनों पर रंचक सन्देह नहीं था ।

हा भाग्य!

उम्र यह ऐसी ही अँधी होती है
जीवन का कड़वा सत्य
नहीं देखा करती है ।

अल्हड़ बाला
प्रणय-पवन पर बरबस बहती
तोड़े विवेक की तुला
नयन-पट मूँदे उड़ती।

जीवन का दर्शन अजीब किसने समझा है ?
सदा मनुज ने नयन मूँद कर सुख पाया है।
नारी तो ईश्वर की
अति विचित्र रचना है
उसने निज सुख या दुःख
कभी क्या पहचाना है ?
कर-पल्लव सम्पुट में रख
प्राणों का मोती
नारी नर की बाँहों में न्योछावर होती।
पा सुहाग का स्पर्श
हुई कृतकृत्य समझती
सभी वृत्तियाँ जोड़
बाँहों की भाँति सिमटती।

नर को भी लगता
नारी के दीर्घ दृगों में
पूरे हो जाएँगे मेरे सारे सपने।
कहता—
तुझ हित तोड़ लाऊँगा नभ के तारे
फूल समझ कर झेलूँगा जग के अँगारे।
नर के जीवन में यह नारी
जल-धारा-सी बहती
क्षुब्ध क्षणों में धीर बँधाती,
शान्त समय कल गाती।

दीवारों को देती है वह
घर का रूप सुहाना
जहाँ पहुँच नर भूला करता
जग का ताना-बाना ।

जब सौभाग्यवश
नारी
बन जाती है पावन
जाया,
उसके मन की थाह
पुरुष कब आज तलक ले पाया?

मानव के सब दर्शन
कैसे निश्चित सत्य नकारें—
मनुज-लाभ-हित रक्षित हों
घर की कोमल दीवारें ।

सच है—
यहाँ व्यक्ति-समाज की
स्थितियाँ बड़ी कुटिल हैं,
पग-पग करते हैरान
भाग्य के फँदे बड़े जटिल हैं ।

यदि अपने हित
मानव साँचा एक कहीं गढ़ पाता
सभी प्रश्न उसमें रख देता,
सुख की-निद्रा सोता ।
मगर यहाँ
हर साँचा

पलक झपकते टूटा करता,
मानव को देता सतत चुनौती
चक्र समय का चलता ।

सारे नियमों का एक लक्ष्य है—
मिल-जुल घर में रहना,
कुछ अपनी कहना
बाकी सबके मन की सुन लेना ।

इस नाटक में
नारी के हिस्से
ज़्यादा ज़िम्मेदारी
क्यों रहती है—
व्यर्थ सोचते—
मानव की मति हारी ।
यह सवाल उस माँ के
चरणों में नतशिर होता है—
जिसकी छाती से दूध उमड़
सृष्टि का वर देता है ।

यहाँ एक का उदाहरण
सामाजिक सत्य न बनता
और समाज
अक्सर
व्यक्ति का निजपन ही
हर लेता ।

हो सकते हैं एक सत्य के
रूप यहाँ बहुतेरे,

अपनी-अपनी नज़र यहाँ
अपने चिन्तन के घेरे।

मगर नहीं कविता
भावों का विस्तृत क्षेत्र निषेधे,
जीवन के कोमल चित्र उरेहे
आकुल मन को ठण्डक दे।

वे क्षण
कितने मादक
कितने सुन्दर,
स्पृहणीय होते हैं—
कुहरे की चादर में दो दिल
साथ-साथ सटते हैं।
अम्बर में पक्षी दो उड़ते
पँख-पँख से जोड़े,
नहीं जानते—
सहने होंगे
शीघ्र समय के कोड़े।

नारी कभी-कभी
पैरों से पर्वत ठेला करती
संकेतों से इतिहासों का रूप बदलती चलती।
सच ही, कभी-कभी चण्डी का रूप बना लेती है
राक्षस-दल को दण्डित करती
रक्त-पान करती है।

पर अच्छा—
मानव-हित—

ये क्षण कभी-कभी ही आवें
जब यावक-रंजित हाथों में
तलवारें सज जावें।
जीवन की गति में
जब कभी
पुरुष
अनुभव करता निर्बलता,
नारी चलती संग
मिला नर के कंधे से कंधा।
किन्तु सुनहला युग
भावों की जगती का वह होता
नारी घर की रानी रहती,
पुरुष शेष श्रम करता।

सच—
नारी—
बहुबार
निलय के बाहर आकर
पुरुष-सरीखा
श्रम करती है।
किन्तु लौट कुटिया में वह ही
दीप किया करती है।
युग की होती माँग अगर
नारी घर-बाहर आती,
जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में
नर के संग विचरती।
लेकिन जैसे साँझ-समय
घर आते पंछी सारे
नील गगन पे टिमटिम करते

तारे प्यारे-प्यारे
मनुज शान्त हो सोचा करता
दिन वह कब आएगा
दिन उगने पर
घर यह मेरा
सूना नहीं रहेगा।
साँझ धिरेगी।
दीप बाल घर के दीवट पर नारी
कुल-देवों की पूजा की
करती होगी तैयारी।
और भोर के समय
उषा की किरणें मधुर संजोए
पूत नयन से देखेगी सारे परिकर को सोए।

साँझ समय आरती,
रात धिरने पर लोरी गाए,
और उषा के समय
प्यार से परिकर सभी जगाए।
घर की दीवारें
नारी ने
कब समझीं काली कारा ?
भार्या का यह भाव चित्र
माँ की आँखों का तारा।

कारणवश
जिस दिन हिल जाती
हैं घर की दीवारें,
धरती के अंकुर सड़ जाते दहते अम्बर के तारे।
क्षण व्यतीत होते

लेकिन परिणाम भुगतना पड़ता,
अपने ही हाथों में हाय!
निःसहाय सुबकना पड़ता।
पक्षी को आखिर धरती पर
ठौर खोजना पड़ता,
स्वप्न सेहने की खातिर भी
नीड़ बनाना पड़ता।

लेकिन यह उम्र
बहुत भोली,
कच्ची, ज़िद्दी होती है,
सावन की बिजली को
सहने का साहस करती है।
फागुनी पवन-सी डोला करती
फूलों की गन्ध चुराकर
सागर की लहरों पर बहती
कागज़ की नाव बना कर।
मन भी अपना कहीं
हाथ में अपने रह पाता है?
स्फटिक-शिला पर
पारद-कण-सा बिछल-
बिछल जाता है।

कहा किसी ने देवी उसको
और किसी ने माया,
मैंने देखा,
नारी तो है
केवल शिशु की माता।
जब कभी पुरुष को
प्रणय-केलि में

प्रिय-सम देखा करती है,
अपनी शीतल छाया में
उसको रक्षित करती है।

नर कभी
स्पर्श कर पाता उसके अंतर का परकोटा
वाल्मीकि बन
सीता को आश्रम में आश्रय देता।
लव-कुश लेते जन्म वहीं
रामायण कवि मुग्ध सुनाता
रहते राम अवध में
पर वन-वन में सीता माता।
किसी रूप में
किसी जगह
रहती है चाहे नारी,
निश्चित है यह सत्य—
सब कहीं नारी है महतारी।

नर शकुन्तला का भी
देखता रूप प्रायः मदमाता
और भूलता
थी वह वीर भरत-से सुत की माता।
शाप-ग्रस्त उर्वशी को भी
तो यही चयन करना था—
पुत्र और प्रेमी दोनों में
मात्र एक चुनना था।
लेकिन प्रयाग भी
उसी सरल कुटिया में सज पाता है—
जहाँ पहुँच शृंगार
शान्त, वत्सल से मिल जाता है।

और इनका अभिसिंचन
करते हैं करुणा के धारे
मुस्क्यानों पर
लावण्य चढ़ाने
बहते हैं
आँसू खारे !

जब-जब सुबह होगी
विहग नीड़ों में जागेंगे,
क्षितिज पर रंग बिखरेंगे,
सितारे मुँह छिपाएँगे,
चमकता पूर्व में होगा—
उषा के भाल का केसर,
परियाँ थिरक उठेंगी
धरा पर स्वर्ग से आकर ।

उषा का हाथ थामे अरुण
सरि के घाट उतरेगा,
तरन्नुम जल में लहरेगा,
हवा में गान उभरेगा ।

विघटन और टूटन से बचाना है
मनुष्य को
व्यक्ति की टूटन
राष्ट्र की टूटन बनती है
धरती की प्रकृत गति को
मिल-जुल कर बचाना
मनुज मात्र का
समाज-सांस्कृतिक कर्तव्य है ।

—: पंचम सर्ग :—

प्रश्न; केवल प्रश्न

नियम, मर्यादा पर्यायवाची शब्द हैं
औचित्य का निर्वाह ही धर्म है
वरदान या अभिशाप,
मन्त्र या कानून,
न्याय-अन्याय—

✕ अपवाद की रंचक अनुमति
नहीं देते दुर्वासा।

मनुज बनाता
टेढ़े-मेढ़े पथ सारे अपनी ही खातिर
बन जातीं ये लेकिन कैसे
भूलभुलैयाँ !

✓ नृप ने अगनित सुन्दर कन्याएँ भोगी थीं
पूर्ण समर्पण क्या होता है
जाना न था
अब तो अन्तरतम भी
पिघल-पिघल जाता था ✓
दो शरीर, पर एक प्राण ऐसा लगता था।

✓ महलों में था मात्र दिखावा
नकली क्रीड़ा,
नकली प्रणय-केलियाँ
नकली लज्जा-व्रीड़ा,
ले आते सामन्त कभी सुन्दर कन्याएँ
बधिक-सामने खग-सी
दिखतीं कातर बालाएँ।

मदिरा के चषकों में मरतीं सुधियाँ सारी
अन्तर की मरुभूमि सदा प्यासी रहती थी।
यह अनुभव अनुपम, अद्भुत

✧ अनचीन्हा जैसा
दैवी पावनता का, लगता,
मादक फल-सा।

✓ उधर सारथी ने मन्त्री को जा बतलाया—
महाराज ने नयी कपोती फुसलाई है
लगता, पर, इस बार बात काफी टेढ़ी है
यह लड़की तो कश्यप ऋषि-कुल की बेटी है।

मन्त्री के माथे फैल गई चिन्ता की रेखा
ऋषि-मुनियों का कोप
भयंकर होगा—सोचा।

मन्त्री ने नृप को तुरन्त बुलवाना चाहा
उलझन को उसने तुरन्त सुलझाना चाहा।

✓ प्रतिदिन
नूतन सन्देह
भूप के पास पहुँचता;
राजा लेकिन न कोई भी बात समझता।

वन की सरल खगी का
कुछ ऐसा जादू था,
उन्मुक्त प्रणय का
पहला-पहला स्वाद चखा था
वचन दे चुका—
विधिवत पाणि-ग्रहण करूँगा
चाहे कुछ हो,
इन वचनों से नहीं टरूँगा।✓

✓ मन्त्री के जब दूत अनेकों
खाली लौटे,
चह-मह करने लगे
सभी जब छोटे-मोटे,
मन्त्री ने तब स्वयं पहुँच
सब कुछ समझाया,
क्या होगा परिणाम
तर्क के साथ बताया।

“राजा-समक्ष
मात्र राज्य का हित होता है,
उसके विवाह का राजनीतिगत
ध्येय होता है।”

राजमहिषी का कोप,
प्रजा के भाव बखाने,
क्या सोचेंगे सारे ही सामन्त सयाने।✓

दुष्यन्त खड्ग की मूठ हिला
गुस्से से बोला—
(मन्त्री को लगा गगन-बीच ऐरावत डोला)

“कोप-कोप जो रजवाड़ों का दर्शाते हो,
जिनके षड्यन्त्रों का भय तुम दिखलाते हो,
सब हमारे खड्ग के आगे झुकेंगे।
जो अड़ेंगे शीश,
धरती पर गिरेंगे।

जो असुर-दल को भी
कर सकता पराजित
यह धनुष इन तुच्छ सामन्तों के सम्मुख
तोरण-माल-सा सज जाय?
दुष्यन्त-सम्मुख धृष्टता का अर्थ क्या है,
कौन पूछे,
कौन फिर बतलाए?

किसलिए तुम,
महामात्य,
सेनाध्यक्ष
और दण्डनायक,
गुप्तचर सब किसलिए हैं ?
जब-जब बने कोई समस्या
हाथ मलते भागते हैं।

तुमने जो
रानियों का जमावड़ा कर रखा है,
हर्म्य समूचा
मेरे हित जो गढ़ रखा है,
कहीं तुम्हारी नीति,
कहीं किसी राजा का आग्रह
बढ़ती चलें रानियाँ

हों सुग्रह या विग्रह!
तुम मन्त्री ही नहीं,
मित्र विश्वस्त हमारे,
ऊब चुके हम
सुन सारे उपदेश तुम्हारे।

अब तक के सम्बन्ध
राजनीति के बन्धन सारे,
क्या हम मानव नहीं?
नहीं कुछ भाव हमारे?

तुम क्या जानो
रोम-रोम का स्पन्दित होना
फिर सन्नाटा छा जाना,
नीरवता में
यादों की लहरों पर
बहना...बहते जाना...

तुम कहते हो
जीवन का लघु क्षण एक भी मेरा नहीं है
शयन और जागरण मेरा नहीं है।
लेकिन बात यह बड़े भेद की बतलाता हूँ
मित्र समझ कर तुम्हें सत्य यह जतलाता हूँ।
यह नहीं वह भूप
जिसका निकल जाता हाथ से निज मन
आज पहली बार
यह दुष्यन्त
लगता, पा सका है
मित्र! जीवन-धन।

राजमहिषी से कहो
सुख से बैठें वे राजमहल में
हम तो मन को खो बैठे हैं
इस सुन्दर जंगल में।”

मन्त्री ने नृप की बात सुनी
सुन कर मुस्काया
बोला—

“कब मैंने न
मैत्री-धर्म निभाया?
राजन,
किन्तु भावावेश में
उड़ जाए सिंहासन
यह निर्णय ठीक है क्या?
पवन का बस एक झटका
धूलि कर दे
सिंधु तक का राज्य
निर्णय ठीक है क्या?
शान्त चित्त हो ज़रा सोचिए
बात सरलतर
सामन्तों के भुजदण्डों पर ही
टिकता है राज्य मित्रवर!
राजा और प्रजा के
कार्य अलग होते हैं।
कूटनीतियों पर ही
दृढ़ सिंहासन टिकते हैं।
यह राज्य—सिन्धु तक
जिसकी कोई रोक नहीं है,
चिन्त्य तथ्य है—

अब तक हरी
किसी रानी की कोख नहीं है।
क्या जाने किसकी लड़की है
यह वन-कन्या
किसी क्षत्रिय की औरस सन्तान नहीं यह।

हो गया पुत्र जो इसी कोख से
राज्य उसे अपना दे देंगे?
सामन्त, पुरोहित और प्रजाजन
नृप उसको स्वीकार करेंगे ?

वचन आपका
पूरा होगा कुछ समय अनन्तर
इस समय संभलिए
औ संभलिए चल अन्तःपुर।

पहले तो मेरे संग आपको चलना होगा
भावी षड्यन्त्रों का कुछ तो करना होगा।

सारे पहलू समझाए जब चतुर सचिव ने
राजा का मन भी अस्थिर हो लगा काँपने।

मन्त्री बोला—
हे राजन! कन्या से कह दो
आश्वस्त रहो
लौटेंगे कुछ दिवस अनन्तर
राज-कार्यवश चले जा रहे
बाध्य हुए हम।

राजकीय मुद्रा पहना कर
शीघ्र बुलाने का वादा दे
राजा रथ पर जा बैठा
मुस्कान बाँटता।

घर-घर-घर-घर
रव पहियों का
धीरे...धीरे... खामोश हो गया
रात धिरी
विहंगों का कलरव भी
सो गया।
पर आश्रमवासी चिन्ता में जाग रहे थे,
क्या भविष्य होगा
सारे यह सोच रहे थे।

सकल विपन में
आग-सरीखी फैली बातें
राजा की आश्रम में बीती कैसी रातें।
दूर-दूर...
ऋषियों के आश्रम उत्तर दक्षिण के सारे
आश्चर्य-चकित रह गये
जान राजा के बारे।

दुर्वासा को यह अमर्यादा
तनिक न भाई।
'राजा को शिक्षा दूँगा'
सौगन्ध उठाई।
लम्बी यात्रा कर
ऋषि कण्वाश्रम पहुँचे

डरे हुए वटुकों से दुर्वासा बोले—

“राजा का बस मुकुट देख भयभीत हुए तुम
ब्राह्मण का सारा अहंकार स्वाहा कर डाला,
भूल गये तुम ब्राह्मण के शापों की सत्ता
तुमने कण्व का उज्ज्वल मुँह
काला कर डाला।

सोच रहे तुम—

नृप सादर, सप्रेम बुला कर
इस लड़की को अपने राजमहल रखेगा।
पटरानी करके
आधा सिंहासन देगा!
यहीं भूप का ध्यान रहे करती यह लड़की
बुद्धिहीन है
नहीं जानती रीत जगत की।

तुमको तो जो करना था
तुमने कर डाला है
लेकिन दुर्वासा
नहीं मौन रहने वाला है।”

राजपुरोहित के आश्रम में
जाकर बोले—

“अब दुर्वासा ही तुम सब की आँखें खोले?
राज-पुरोहित बन कर पेट भरो तुम अपना
क्या है धर्म-अधर्म
न इसकी रंचक चिन्ता।
राजा को भी दण्डित करने की जो सत्ता
तुमको ऋषियों ने दी थी—

तुमने अलबत्ता—

स्वर्ण-लोभ में सत्ता-सम्मुख गिरवी रख दी
सामाजिक मर्यादा की लुटिया
तुमने ले दक्षिणा डुबो दी।”

आक्रोश-पूर्वक कहकर दुर्वासा सारी बातें
बिन बैठे

तेज़ चाल से चले गये।

राजपुरोहित के मन में चिन्ता उपजाकर।

उड़ती-उड़ती बात मेनका तक जा पहुँची
भेजा सखियों को—

जाकर जानो सच्चाई।

आकर सबने स्तब्ध नयन से कथा सुनाई
और बताई बात

हृदय दहलाने वाली—

अब शकुन्तला तो है माता बनने वाली।

सन्नाटे में रह गयी मेनका सुन कर बातें

किससे करें सलाह

मदद भी किससे माँगें?

एक बार वह स्वयं सभी कुछ भोग चुकी थी

रूप-लुब्ध नर की आँखों में

बँधने का परिणाम विषैला

देख चुकी थी।

चिन्तन कर सारी अप्सरियाँ रथ पर बैठीं
विश्वामित्र की कुटिया में वे जा कर उतरिं।

ऋषि पहले हैरान हुए

कुछ समझ न पाए

कौन नारियाँ हैं?
पलभर पहचान न पाए।
धीरे-धीरे इतिहास याद आया,
पहचाना,
पूछा—
देवि, कहो
हुआ कैसे अब आना?

आवेशयुक्त स्वर में मेनका
झटपट बोली—
आर्यों के राजा ने जो बालिका छली है
नहीं कण्व की दुहिता,
वह मेरी बेटी है।

कहकर सुबक उठी
नयन से छूटी धारा
उठता-गिरता वक्ष
विकल तन बेबस सारा।

विश्वामित्र आसन से
सहसा उठ खड़े हो गये
आश्चर्यचकित आश्रमवासी
जड़-मूर्त रह गये।

दुहिता का अपमान
पिता कब सह सकता है
पुत्री का सुन कष्ट
शान्त कब रह सकता है?
और पिता के जीते-जी

यदि कोई लम्पट
 बेटी के माथे कलंक का टीका देता
 उस पामर का हाथ काट कर दण्डित करना
 हर पिता भूमि पर
 पावन निज कर्तव्य समझता ।
 या फिर बँधा निरीह
 दीनता की बेड़ी में
 नयन-श्रवण को मूँद
 जनक जो चुप रहता है
 तुषा-अग्नि में
 तिल-तिल जलता पौरुष अपना
 बेचारा अनुक्षण, अनुपल देखा करता है ।
 या संयम रख
 औ विवेक की खोल पिटारी
 मौन सोचता—
 कैसे सुलझे मुश्किल सारी ।

किन्तु प्रिया के अश्रु
 कर रहे मौन निहोरे
 लाल हो गये
 विश्वामित्र के दृग के डोरे ।

तनी भृकुटियाँ
 माँसपेशियाँ लगीं तड़कने
 आवेशयुक्त सब अंग
 क्रोध से लगे फड़कने
 बोले—जाओ सद्म देवि,
 निश्चिन्त रहो तुम
 विश्वामित्र का तेज, दर्प, बल जग देखेगा

स्वयं, इन्द्र का वज्र
झुकेगा, खण्डित होगा।

गर्जनमय स्वर में बोले ऋषिवर शिष्यों से—
छोड़ कमण्डल
शस्त्रास्त्र लाओ सब मेरे
उनको परखे बीत गये
दिन साल घनेरे।
लगता है मन्त्रों का बल सब क्षीण हुआ है
समझा वसिष्ठ ने
विश्वामित्र बस दीन हुआ है
शस्त्रास्त्र सारे कब के वह टाँग चुका है
प्रत्यंचा की आवाज़
युग हुए भूल चुका है।

इसीलिए तो नृप
इतना साहस कर बैठा
मेरी बिटिया पर लम्पट
आँखें धर बैठा!
सारा हस्तिनापुर
सागर में जा रखूँगा
उसका सारा भ्रम
मैं ही धूसरित करूँगा।

कण्व ने किस्सा सुना
बस चुप हुए यूँ सोचते थे—
आक्रोश में कुछ और गलती हो न जाए!
मित्र-ऋषियों—साथ बैठे
यह विचारा—

है बड़ी गहरी समस्या
करनी होगी अब कोई निश्चित
व्यवस्था
गान्धर्व को भी शास्त्रपोषित
ब्याह कहकर
घोषणा कर दें कि ऐसी बालिकाएँ
धर्मपत्नी की तरह होंगी समादृत।

ले व्यवस्था,
शास्त्रकारों से सलाह ले
कण्व आश्रम में तुरत ही लौट आए।
शारंगरव के सामने पड़ते ही बोले—
कल उषा होने से पहले
शकुन्तला को साथ लेकर
वत्स जाओ!

और राजा को बताओ—
अपनी पत्नी को करो स्वीकार
करो तुम सत्य अंगीकार।
यह बाला अबोध, अंजान
कुक्षि में है, तेरी सन्तान।
पितृ-गृह में रह सके
इसका नहीं अधिकार,
इसके लिए तो एक आश्रय
है तुम्हारा द्वार!

हारीत को भेजा—
करो दुर्द्धर तपी को शान्त
राजर्षि से भी कहो
ऋषिवर रहो तुम मौन

गृहस्थधारी वृद्ध की इस योजना का
निकल पाए काश!
कुछ परिणाम!

रुक जा गाथा
बस एक रात-भर
तेरे रुकने से संसृति की गति
नहीं रुकने वाली है।

सोचो पाठक, चिन्तक, दर्शक!
कथा बनेगी कैसी?
घटनाओं की मौज
गढ़ेगी कैसा साँचा!

—: षष्ठ सर्ग.:—

विदा

विचित्र सम्बन्ध है यह!
सभी सामाजिक सम्बन्धों का आधार,
संस्कृतियों का नियामक,
जो स्वयं में खून का रिश्ता नहीं है
फिर भी सभी रक्त-सम्बन्धों को
अथ देता है;
बहुत-कुछ विदा करता है—
भोलापन, अलहड़ता...
और पर्वतों के भार उठाने को
तत्पर करता है।

रात भर तैयारियाँ होती रहीं
संशय-ग्रसित सब नारियाँ
गाती रहीं
-रोती रहीं।
गौतमी माँ सोचती थी—काश!
वर के संग जाती बालिका ससुराल!!
कण्व को थी अभी तक याद

ओस की लघु बूँद-सी वह बालिका अज्ञात
बाँह में भरते हुए जिसको
सकल संसार बदला था
धरा बदली, गगन बदला
नियति ने एक क्षण में
सारी तपस्या-साधना का
अयन बदला,
आधार बदला था।

कन्याओं को जब भेजते हैं
गृहस्थजन ससुराल
बिलखते हैं सोचकर—
जाने लिखा क्या भाल!
कण्व जैसा वीतरागी भी
द्रवित यूँ हो रहा है
धैर्य ही तज धर्म अपना
रो रहा है
और है सन्देह मन में—

प्रासाद में भी
रख सके
शायद न इसको भूप—!
कुछ भी हो,
इसके लिए वर्जित है
इस आँगन की छाया-धूप।

विश्व की हर माँ समझती—
उसकी बाँहों-सा स्निग्ध स्नेह
बालिका को दे न सकता

और कोई गेह !
हर जनक यह सोचता—
सन्तानहित
जितना जुटा सकता वह सुख-ऐश्वर्य
विश्व में जुटा सकता
न कोई अन्य ।

माता-पिता का गेह-आँगन
बालिका का नीड़
इसके बाहर एक धारा
अलंध्य जिसका नीर ।
भेजते माता-पिता ही धार के उस पार
सजता जहाँ उसका नया घर
अपना, नया परिवार ।
नयन में उल्लास उत्सुक
माँग में अहिवात
और हाथों में महँदिया प्यार का जलजात ।

सखियाँ पातीं एकान्त कभी
तो इक-दूजी से कहतीं
काश ! नवेली दुल्हन—जैसी
सखी विदा हो पाती ।

होता तब भी दुःख हृदय में
खुशियाँ भी तो होतीं,
कहीं हृदय के कोने में
मधु गुदगुदियाँ भी होतीं ।

जीजा-जीजा कह वर को

करतीं मज़ाक मनभाने,
पर अब क्या होने वाला है
ईश्वर ही सब जाने!

सब को चिन्तित लख शकुन्तला
आश्चर्यचकित होती थी,
प्रियतम पर सन्देह नहीं
वह सरला कर सकती थी।
अति अबोध पक्षिणी विटप की
जग के प्रपंच क्या जाने!
कदम-कदम पर जहाँ शिकारी
बैठे साध निशाने।
इस दुनिया में वही आदमी
बुद्धिमान कहलाता
जो चतुराई से औरों को ठगता,
स्वार्थ बढ़ाता।

रजनी बीती
नील गगन में शुक्र उगा,
मुस्काया
छेड़ो सुहाग के गीत तनिक
अब समय विदा का आया!
संयम के सारे बाँध टूटते
अंशु न रुकते रोके
अन्तर से उठते संशय के
झँझावातों के झोंके।
सिसक सिसक कर एक
पछाड़ें खा सुधि खो जाती थी।
और दूसरी सुधि लाने

मुख में जल ढरकाती थी।
पुरुष सभी गांभीर्य छोड़
बालक-से लगे बिलखने
वन के पशु तज रैन-बसेरे
विस्मित हो लगे निरखने
पक्षी सब थे मौन
भूलकर
चिहुक चिहुक इतराना
मृग जड़वत थे खड़े
कि भूले सभी कुलौंचें भरना।

फिर शकुन्तला की भी
हिचकी बैँधी,
रुलाई फूटी
लगता था सब के संयम की
सीमा-रेखा टूटी।
शारद्वत ने
धीरे-धीरे
धीरज धर
उन्हें प्रबोधा
और शकट-चालक से बोले
गाड़ी ला मेरे भैया।

बैलगाड़ी पर शकुन्तला को बिठलाकर
सब को आश्वासन दे
समुचित अभिवादन कर
शारद्वत गुरु-भाई सहित वाहन पर बैठे।
कण्व रोक दृग नीर
शकट-चालक से बोले

हाँको गाड़ी मेरे भैया हौले-हौले ।
संकेत समझ कर बैल चले
फिर सरपट भागे ।
गाड़ी के पहिए बढ़े
ठकाठक शोर मचाते
गाड़ी की गति तेज़ हुई
पा लीक सड़क की
यात्री सब थे थके,
रात के जगे,
सभी को झपकी आई ।

जागे सब जब चालक ने ही
उन्हें जगाया
और बताया
अब तो सम्मुख महानगर का फाटक आया ।

ऊँचे भवन, कँगूरे सुन्दर
देख चमकते
ऊषा की किरणों में
कलश सुनहरे दिपते ।
मनहर द्वार नगर का
था सुन्दर परकोटा
शकुन्तला
थी हैरान
निरख संसार अनोखा ।
रथ कुछ भीतर-बाहर जाते
ध्वज फहराते
कुछ पैदल भी लोग
घूमते थे बतियाते ।

पर सब के आचरण
भिन्न कुछ जतलाते थे
मन में कुछ-कुछ
संशय भी उपजाते थे।

यह दुनिया है अलग
एक संसार नया है
हो सकता है नृप ही मुझको
भूल गया है।

गाड़ी वाले ने कहा
बाएँ जो श्वेत भवन है
वह जनता के लिए
सुनिश्चित
विश्रामालय है
वहाँ स्नान-भोजन का भी
अच्छा प्रबन्ध है
महिलाओं के लिए स्नान का
स्थान अलग है।

दायीं ओर उद्यान—बीच
जो भवन दीखता
उसमें केवल राज-पुरुष
ठहरा करते हैं
वर्दीधारी सैनिक चारों पहर वहाँ पर
चौकस रहते
रात-दिवस पहरा देते हैं।
उस ओर कभी जाने का भी तो सपना मैंने

देखा नहीं
अतएव बताऊँ कैसे
हैं क्या-क्या सुविधाएँ।

मेरी तो गाड़ी
न नगर में जा पाएगी
वाहनशाला में यहीं
साँझ तक रुकी रहेगी।
बैलों को भी
देना होगा कुछ चारा-पानी
पट्ठों की है
अश्वों से भी तेज़ रवानी।

मैं तो इसी सराय में
मुनिवर ठहरूँगा,
जब तक न लौटें आप
प्रतीक्षारत बैठूँगा।
होकर आप निवृत्त
नगर में जाएँ स्वामी
कार्य सिद्ध सब करें विधाता अन्तर्यामी।

शारंगरव बोले शकुन्तला से
सुन बहना,
कर लें थोड़ा जलपान
हमें फिर है चल देना।
जाने कितनी दूर
भवन राजा का होगा
कैसे होगी भेंट

समय कितना बीतेगा!
 अधर काट बोली शकुन्तला—
 भैया मेरे,
 मुझ कारण ही झेल रहे हो दुख बहुतेरे।
 लगता मुझको स्यात्
 कष्ट कुछ और मिलेगा,
 राजा ही शायद न
 मुझको पहचानेगा!
 शारद्वत बोले—
 ईश्वर सब ठीक करेंगे
 राजा अपनी चूक जान
 पछताव करेंगे।

बातें करते सब
 विश्राम-भवन में आए
 द्वारपाल के पास सभी ने नाम लिखाए
 ज्यों-ही शकुन्तला ने थोड़ा-सा हाथ हिलाया
 द्वारपाल करबद्ध खड़ा हो गया डरा-सा
 बोला—आप कृपा कर उस शाला में जाएँ
 मेरे यहाँ रुककर न कोई कष्ट उठाएँ।

दो क्षण में ही अगर कोई त्रुटि मुझसे हो ली।
 क्षमा करें कर कृपा, दास की मति है भोली।
 आश्चर्यचकित थे सभी
 बात कुछ समझ न आई
 आइए—आइए...
 गाड़ी वाले ने दिशा दिखाई।
 उद्यान-निकट ज्यों ही पहुँचे वे चारों चलकर
 लगे पूछने प्रश्न अनेकों सजग धनुर्धर।

गाड़ी वाला कुछ डरा और चुपके से खिसका।
 दूर खड़ा हो लगा देखने अब क्या होगा।
 क्या शुभ नाम? कहाँ से आए?
 आए...महाराज के दर्शन करने!
 या फिर करने भ्रमण...
 नगर के हाट निरखने !
 उफ सराय का द्वारपाल भी महामूढ़ है
 यहाँ भेज कर व्यर्थ आपको कष्ट दिया है...
 कहते-कहते प्रहरी
 अचानक भीतर भागा
 हाथ जोड़ता क्षण भर में ही वापस लौटा—
 लगता उसके संग
 ऊँचे पद वाला अधिकारी
 डाँट रहा था अन्य सभी को बारी-बारी
 अभिवादन कर
 हाथ बाँध
 बोला अधिकारी
 महानुभाव! है महामूढ़, बोदा यह प्रहरी!
 कृपा कीजिए हमें दयाकर क्षमा कीजिए
 इन मूढ़ों की त्रुटियों पर न ध्यान दीजिए।
 श्रीमन्त को सेवक भीतर ले जाएँगे
 सारी सुविधाएँ देंगे
 शुश्रूषा करेंगे।

शीघ्र हो लें निवृत्त
 आपको राजकीय रथ
 राज्य-सभा जुड़ने से पहले
 सभागार तक पहुँचा देगा
 पुनः न कोई कठिनाई हो
 मैं स्वयं आपके साथ चलूँगा।

— — —

कल्पना की अमर नगरी से अधिक
सुन्दर सजी थी राजधानी
हर तरफ रौनक बिछी थी
मुस्कराती ज़िन्दगी की लंतरानी
सारथी के साथ बैठे थे
सजग दो धनुर्धारी
शारंगरव सन्तुष्ट थे
व शकुन्तला
विस्मित ठगी-सी
सोचती थी
आ गयी है अन्ततः
पति से मिलन की आज बारी।

सारथी ने आ सुनहले द्वार सम्मुख
अश्व रोके
द्वारपालों ने भी रथ के
दण्डधारी तुरत टोके।
“भूप थोड़ी देर पहले ही सभा में आ चुके हैं
स्वयं यह दण्डाधिकारी कह गये हैं :
प्रवेश अब वर्जित सभी का
कोई तपस्वी हो या होवे मुकुटधारी
कौन भोगेगा अगर होगा कहीं से
दण्ड का आदेश जारी !”

रथवाहकों ने द्वारपालों के प्रमुख को जा बुलाया
नम्रता से यह सुनाया—

तापसों के साथ जो आर्या पधारी हैं नगर में
भूप के दर्शन से बस कृतकार्य होना चाहती हैं

महत्त्वशाली हैं अमित वे
अँगुली में भूप की शुद्धान्त मुद्रा धारती हैं।
प्रमुख ने आदर-सहित रथ से उतारा
और पथ-निर्देश करता ले चला नृप की सभा में
ब्राह्मणों-मुनियों-तपस्वी दर्शकों के वास्ते
सम्भाग में जाकर बिठाया।

महामात्य, सेनापति, राजा स्वयं भी
तापसों के संग आती
नव वधू का वेश धारे
मुख को घूँघट से ढके
अप्सरा-सी एक नारी देखकर
भर प्रश्न नयनों में प्रमुख से पूछते थे—
कौन हैं ये?
निश्चित समय के बाद
लाए हो इन्हें क्यों
और किस की अनुमति से?

प्रमुख ने दण्डाधिकारी के श्रवण में
फुसफुसा कर सब बताया
गिड़गिड़ा कर
निज को
बेचारा जताया।

चतुर अधिकारी के मन सन्देह जागा
और द्वारी से कहा
ध्यान रखो—ये तपस्वी
भूप से मिलने न पावें
जिस रास्ते आए

सभा उठने से पहले
 तीनों उसी पथ लौट जाएँ।
 भूप भी चुपचाप सब कुछ देखता था
 हो रहा कुछ खास
 कुछ-कुछ समझता था।
 दण्डाधिकारी पट्टमहिषी का सगा भाई
 बहन को कर रहा संकेत
 भृकुटी तन गयी
 लग रहा कोई
 अवांछित बात ही है बन गयी।

दुष्यन्त ने सदर्प वाणी में कहा
 —रुक गया हर कोई
 जहाँ, जैसा—वहाँ।
 “कहिए कौन मुनि आप
 समादर योग्य हमारे
 नववधू संग है कौन
 कहाँ से आप पधारे?”

आसन से ज्यों ही शारंगरव
 खड़े हुए निज हस्त उठाए
 आशीष-वचन कहने को
 अपने अधर हिलाए,
 राजा पहचान गया
 भूकम्प में भूधर डोला
 तुरत समझ कर बात
 चतुर मंत्री यूँ बोला—
 आप आर्या सहित अतिथिशाला में जाएँ

आतिथेय स्वीकार करें
आदर सब पाएँ...!

भाई का संकेत समझ कर रानी बोली—
सभा-मध्य ही सुलझा लेंवें सभी पहेली।

शारंगरव बोले:

‘यह कन्या
कुलपिता कण्व की
पालित दुहिता है
महाराज की वाग्दत्ता भार्या है
भावी सुत की माता है...।’
दुष्यन्त छोड़ आसन सहसा उठ खड़ा हो गया
मन्त्री, सेनापति ने सोचा
भण्डाफोड़ हो गया।
इस वनकन्या ने भी अच्छी लीला ठानी
गली-हाट तक अब फैलेगी
सकल कहानी।
अब न नृप को कोई सत्ता रोक सकेगी
मुनिकन्या
निश्चिततः पटरानी बन बैठेगी।

चतुराई से रानी
रोषयुत स्वर में बोली—
ऋषि तापस भी करते हैं
अश्लील ठिठोली?
महाराज वैसे भी हैं अस्वस्थ सभासद!
सभा विसर्जित आज
रुकें मन्त्री अरु पार्षद।

खड़े चुनौती धरते मानो राजाज्ञा पर
शिष्य कण्व के दृढ़ विटपों-से अड़े वहीं पर
जलती आँखों से अपनी थे प्रश्न उठाते—
राजन! क्या विस्मृत तुमको आश्रम की बातें?

और शकुन्तला के मन में तूफ़ान...
दृष्टियाँ गड़ीं धरा पर
क्या पुरुष कभी हो सकता
इतना झूठा, कायर, कातर।

मन्त्री बोला—तुम ठग हो या
छद्मवेश में कोई ब्राह्मण?
आर्य भूप पर क्यों-कर कसते हो लौछन?
बकते इतना झूठ तुम्हें न लज्जा आई!
चले जाओ तुम तुरन्त
इसी में सभी भलाई!

“मैं इसे नहीं जानता”
कह कर राजा
मानो जड़—गूँगा—बहरा
रहा देखता इधर उधर
बस मरा-मरा सा।

धीरे-से शारद्वत शकुन्तला से यूँ बोले :
दिखलाओ मुद्रिका
नृप की कुटिलाई खोले
और दिलाए याद भूप को उसके प्रण की
आश्रम के सारे घटना-क्रम की,
आश्वासन की।

नयनों में आँसू भर कर
शकुन्तला बोली—
निर्मम ने परिणय को कर दिया ठिठोली !
जिसने प्रणय की बातें
सकल भुला डाली हैं,
जिसके वचनों की शृंखला
पूरी जाली है,

उसे दिखाना अभिज्ञान
चौर्य का लौछन होगा
चलो यहाँ से
सह लेंगे जो होगा,
होगा !

शारंगरव लेकिन रोषयुत स्वर में बोले
जैसे—स्वयं अग्निदेव
निज जिह्वा खोले :

जो पुरुष प्रेम का जाल रचा
धोखा रचता है
अपनी सन्तति की स्वीकृति में
आनाकानी करता है,
दुष्यन्त सुनो !

उसका पुरुषत्व तो मर जाता है

वह नर
केवल अभिशप्त
नारकीय जीवन जीता है !

जो पुरुष
अदेखा कर सकता

आगामी सन्तति को,
 जो अपने पुंसवन से
 मुँह मोड़े बैठा है
 वह पुरुष
 पुरुष की संज्ञा अपमानित करता है
 जीवन भर वह क्लीव
 घोर लाँछन ढोता है।
 इतिहासों,
 काव्यों में भी गाथा उसकी
 पतित
 छली
 कामी की गाथा बन रहती है,
 यह धरती तुम जैसे धोखेबाजों को
 नहीं कभी भी भीख क्षमा की दे सकती है!

यह कन्या मूढ़ा
 अब नहीं पितृ-गृह जा पाएगी
 जिए भले यह मरे
 निगोड़ी यहीं रहेगी !

वज्रनाभ संकेत समझ रानी का बोला—
 'सुन ब्राह्मण तू बहुत धृष्ट
 कितना बड़बोला।
 यह कन्या भी राजमहल में रह सकती है
 अन्य रानियों सहित भोग-सुख ले सकती है
 इसे हर्म्य की साधारण नारी बन रहना होगा
 हर्म्याधिकारी की आज्ञा में चलना होगा।'
 शारद्वत बोले :
 कुलटा ने कैसा कर्म कमाया,

पितृवंश को इसने
घोर अपमान दिलाया।
यही स्वयं दे इन राजाज्ञाओं के उत्तर
अपने कर्मों का भोगे परिणाम भयंकर।

शिष्य कण्व के चले गये तो
त्यक्ता बोली :
अपने पति को शाप नहीं दे सकती नारी
सुखी सदा तुम रहो ईश से विनती मेरी

पर यह वनकन्या न बनेगी दासी-चेरी।
पुनः सुनो तुम कान खोलकर बातें मेरी
अगर रहेगी यहाँ
शकुन्तला
स-अधिकार रहेगी
दासी बन कर नहीं भर्त्सना रंच सहेगी।

घूँघट उलटा कर उसने जब राजा को हेरा
हक्के बक्के सब रहे
देख सौन्दर्य घनेरा।
लगा पूर्णिमा के चन्दा पर सूरज उतरा हो
या शान्त झील पर
ज्वालामुखियों का जलता हो लावा।

घायल राजहंसिनी-सी
शकुन्तला
रथ तक आई,
बोली : मुझको नगर-द्वार तक ले चल भाई!
रथ-वाहक को घटना सारी ज्ञात नहीं थी,

उस तक पहुँची अब तक कोई बात नहीं थी।

राजा सिंहासन तज चला गया
शुद्धान्त भवन में
क्या होगा सब लगे सोचने
मन ही मन में।

राजपुरोहित देख चुके थे
ब्राह्मण-टोली में बैठे
मुनि दुर्वासा।
जेठिया दुपहरी के सूरज-सा
भाल चमकता
टेढ़ी भवें जतातीं
मन में क्रोध उफनता।

राज-पुरोहित के सम्मुख जा
बोले दुर्वासा :
अब इस धूर्त सभा से
किसको, कैसी आशा?
ये लोग समझते
ब्राह्मण
केवल दयनीय भिखारी,
आकर देहली से ले जाते
हैं भिक्षा बारी-बारी।

मत समझो इस न्याय-युद्ध में
रह पाएगा कण्व अकेला
विश्वामित्र भी यज्ञ त्याग
आ निपटाएगा सकल झमेला।

गान्धर्व विवाह भी विधि-सम्मत है—
ऐसा नियम बना आए हैं,
राजा को समझाओ
तुझे हम इतना ही कहने आए हैं।
मत समझो तेरे राजा से
झोली फैला कर विनय करूँगा
कण्वपालिता पुत्री हित
मत समझो मैं आदत छोड़ूँगा।

जाओ बता दो तुम
अन्यायी राजा से—
झूठी मर्यादा की ढेरियाँ
स्वाहा होंगी,
सिंहासन की सारी कीलें
हिल जाएँगी।
मरुथल के दूह सरीखी
उड़ जाएगी सकल व्यवस्था
कुछ-कुछ तो मेरे शापों से
बहुत कण्व की खामोशी से
और शेष
तेरे एवं तेरे राजा के पापों से।
सुरपुर तक तेरे राजा का यश पहुँचेगा
और वृत्त
असुरों की टोली-टोली में
लम्पट-गाथा का विषय बनेगा।
आर्यावर्त्त के वासी सारे
आदर्श निरख अपने राजा का
हर्षित होंगे,
गौरव मानेंगे !

दुर्वासा चलकर अब पहुँचे
उस कुटिया में
चरखेवाली वृद्धा
सूत काते जाती थी,
विचित्र अबूझ भाषा में बुदबुद करती वह
अपने में खोई-खोई मुस्काती थी।
और निकट अप्सरा मेनका
बैठी गुमसुम सुनती-गुनती थी,
राज-सभा की सारी घटना
जान चुकी थी।

दुर्वासा ने कहा शिष्य से :
मधुरकाम! तुम सत्वर जाओ
और सान्त्वना देकर
बिटिया को ले आओ!
सुनो मेनका !
अब शकुन्तला नहीं कण्व के आश्रम जाए
और न उस पामर दुष्यन्त के सम्मुख
नत हो बार-बार आँचल फैलाए।
इसे गंडकी नदी-किनारे
तुलसीवन ले जाना होगा
और न इसका भेद
किसी चौथे को कभी बताना होगा।

देखो वृद्धा के चरखे से निकला सूत्र सुनहला
विधि ने निश्चित ही कुछ अच्छा देखा-भाला!

क्रुद्ध सर्प सा वज्रनाभ
निज रथ दौड़ाता

जो कोई मिल जाता
उसको डाँट पिलाता—
क्यों तुमने उन राजद्रोहियों को पथ दिखलाया?
किसकी आज्ञा से राज-सभा में जा बिठलाया?

नगरकोट से बाहर
रथवाहक ने रथ रोका
और शकुन्तला ने मुद्रिका
रथवाहक को दे दी।
बोली—तुझको इसका समुचित परितोष मिलेगा
कोई अधिकारी न तुझसे
कुछ कह पाएगा।
जो भी आभूषण था
दे दिया उसीको
चल दी धीरे-धीरे फिर वह सूने पथ पर
जाएगी वह कहाँ, नहीं मालूम उसे था
अपने बल पर जीने का
संकल्प सजग था।

मधुरकाम ने
आगे बढ़
गुरु का सन्देश सुनाया
अविलम्ब उसे वृद्धा की कुटिया में पहुँचाया।
निर्लिप्त भाव से बुढ़िया
चरखा काते जाती थी
रह-रह कर जाने वह क्यों कर मुस्काती थी।
नज़र उठाए बिन वृद्धा मुस्काती बोली :
मेनका ! धरोहर तेरी आई
भर ले झोली !

सुन लड़की!
 यह नारी ही तेरी माता है
 कभी-कभी ही अप्सरियों को
 अपना किया याद आता है !
 विश्वामित्र ने इसी कोख में
 बीज धरा जो
 तेरा वपु बन फूटा था ।
 उस समय कण्व ने
 शान्त किया था कहर
 धरा पर जो टूटा था ।
 मगर आज फिर-से जो कथा
 बनाई तूने
 देखो ब्रह्मा ले जाते हैं
 कौन दिशा में !

धरती पर घटना
 वही—अनोखी
 बार-बार जब होने लगती,
 टूट-टूट बनतीं नूतन रेखाएँ देश की
 और काल का अश्व
 पंथ की दिशा बदलता ।

दुर्वासा बोले : मेनका! सारी चिन्ता छोड़ो
 अपने रथ पर तुम शकुन्तला को बिठलाओ
 वृन्दाओं के देश इसे जाओ पहुँचाओ ।
 वृन्दा माँ से कथा समूची तुम कह देना
 दुर्वासा ने भेजा है सब समझा देना!
 राजहंसयुत यान तुरन्त उड़ गया गगन में
 दुर्वासा भी चले सोच कुछ मन ही मन में ।

और उधर पटरानी का भाई वज्रनाभ
गुस्से में जलता
नगर-कोट के बाहर पहुँचा
हाथ मसलता ।
रथवाहक ! बोलो क्यों कर राजाज्ञा तोड़ी ?
कुटिला छोरी तुमने कहाँ छुपाई, छोड़ी ?

रथवाहक ने चुपके-से शुद्धान्त मुद्रिका सम्मुख कर दी
वज्रनाभ को लगा समूची सत्ता उसकी
उस सरला कन्या ने हर ली ।
यह मुद्रा नृप की
नृप को पहुँचानी होगी,
स्वयं पहुँच कर सारी कथा सुनानी होगी ।
किस ओर, कौन ले गया ?
अरे यह तो बतलाओ ।
जहाँ गयी वह, वहीं मुझे भी तुम पहुँचाओ ।

वज्रनाभ कुटिया में पहुँचा
देखा—चरखेवाली वृद्धा बस चरखा कात रही थी,
लगा—नियति ही स्वयं
उसकी सत्ता को देती मात रही थी !

दण्डाधिकारी
दण्ड हिला कर लगा पूछने :
न टुकुर टुकुर देखो
कुटिला न यूँ मुस्काओ !
कहाँ गयी लड़की
मुझको फौरन बतलाओ
या कारागृह की काल कोठरी में चलने की

कर लो तैयारी
नहीं जानती वज्रनाभ का कोप
धृष्ट अति वृद्धा नारी ।

बुढ़िया बोली :
वज्रनाभ सुन—
इस धरती पर क्या तेरी इच्छा से सारा क्रम चलता है?
और ध्यान दे पथ पर किसका रथ आता है ।

वज्रनाभ ने रथ की घर-घर
ध्वनि पहचानी
महाराज के रथ की गति
थी किससे अबूझ
अनजानी?
शोकग्रस्त राजा ने
सूनी जलती आँखों से वज्रनाभ को ऐसे देखा
जैसे उसके सारे कृत्यों का पूछ रहे हों लेखा-जोखा ।

वज्रनाभ ने नमन किया
सब कथा सुनाई
और खिसक जाने में ही
समझी अच्छाई ।

बोलो मैया कहाँ गयी
सरला शकुन्तला
कला चन्द्र की, किरण अरुण की
सागर के अनुपम मोती की
शीतल आभा !
जीवन में क्या कभी

प्रिया से मिल पाऊँगा?
बिना पाप का शोध किए
न प्राण निगोड़े तज पाऊँगा।

बुढ़िया बोली : सुन राजा !
महत्त्वपूर्ण होता हर पल जीवन का
और भरोसा नहीं जगत में
काल-फलक पर लघुतम क्षण का।
देखो शायद कभी पलट आए
वह जल की धारा
जो तेरी अंजलि से
इस क्षण पूरी निसर गई है।

घटनाएँ कुछ घटीं
इस तरह इस नाटक में
मेरी भी मति उलझ गयी है,
बिफर गयी है।

राजा के सम्मुख
बुढ़िया अन्तर्द्धान हो गयी
लगा भूप को
धरती सारी
उजड़ गयी, वीरान हो गयी।
सूरज उदास
धीरे-धीरे अस्ताचल जाता था,
राजा का रथ
नदी-किनारे की रेती पर
लक्ष्यहीन चलता जाता था।

—: सप्तम सर्ग :—

तुलसी-वन

मानव-इतिहास में
निश्चिततः रही होगी—
मातृ सत्तात्मक व्यवस्था।
कोमलता और परुषता के
सतत द्वन्द्व में विजयी होता रहा पुरुष!
किन्तु है कहीं समाधान इन गुंजलकों का
किसी साँचे के भीतर या बाहर?

यहाँ
तुलसी-चौरे के पास
खड़ी सोचती हूँ
जो कुछ हुआ
उसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं था।

यही कहती हैं
वृद्धा तुलसी माँ—
यहाँ दोष किसी का नहीं होता री!
यहाँ क्षण, प्राण, चेतना

शब्द और उसका अर्थ
उसी प्रकार फिसल जाते हैं
जैसे कुम्भ से
अंजुरी
और अंजुरी से
बालू पर गिरता जल !

दूर-दूर फैले इस वृन्दावन में
कोई पुरुष कभी आया है,
मैं नहीं जानती ।
धनुर्धारी वृन्दाएँ
इस वन की रक्षा में सन्नद्ध देखकर
मैं दंग रह गई थी ।
मैं अब भी नहीं जानती—

यहाँ के निवासियों की दिनचर्या में
अनाहूत प्रवेश करके
मैंने पुण्य अर्जित किया है
या पाप !
मैं यह भी नहीं जानती
कि वृन्दा माँ ने मुझे
यहाँ ऋषि के अनुरोध पर रखा
या उनके अन्तर ही की कोख
सहसा कुलबुला उठी थी ।
सारी वृन्दाएँ आश्चर्य-चकित हुई थीं
माँ के व्यवहार से

और कि माँ ने कहाँ से
सीखी थी

शिशु-प्रसव कराने की पद्धति
या कि नारी को यह सब कुछ सिखा देती है
प्रकृति!

अब इतने दिन बीत जाने के बाद
सभी वृन्दाएँ चकित होती हैं
अपने ही व्यवहार से।

जाने क्यों

इन सबने दिया

इतना प्यार

मुझे

और मुझसे बढ़कर

मेरे (तुम्हारे और मेरे)

पुत्र को—

जिसे न जाने कब सर्वसम्मति से इन्होंने

सर्वप्रिय नाम दिया था

उसकी किलकारियों, रुदन और हास्य ने

इस वृन्दावन का सब कुछ बदल दिया है।

दिन-दिन बड़ा हो रहा है सर्वप्रिय

और निरन्तर फैलता जा रहा है—

मेरी आँखों का सूना आकाश।

आखिर एक दिन यह

ज़रूर पूछेगा

पिता का नाम !

प्रायः मेरा धीरज छूट जाता है

और वृन्दा माँ के सामने रो देती हूँ

गौतमी बूआ के बाद

मुझे इन्हीं से मिला है
इतना प्यार और दुलार !
वह मुस्करा देती हैं
और तुलसी-विरवे को सींचने का
आदेश दे कर
दिनचर्या में व्यस्त हो जाती हैं ।

अजीब बात है
तुम्हारे एक आश्वासन के बाद—
(आश्वासन जो मिथ्या सिद्ध हो चुका है)
तुम्हें झूठा कहने को मन नहीं होता ।
वह कुछ
जिसे मैं विधाता का वरदान समझी थी,
समझी थी सपनीले कमल का पराग
तुम्हारे एक वाक्य से
मेरे आँचल का कलंक बन जाय
यह मुझे स्वीकार नहीं है ।

“मैं इसे नहीं जानता—”
तुम्हारा यह कहना
पेड़ से बँधी
हरी दूब सूँघती
मृगी पर बाण चलाने-जैसा नहीं था क्या ?

कितनी बार मैंने चाहा है
उस अनुभव से उपराम हो जाऊँ
लेकिन
किसी के चाहने-अचाहने से यहाँ क्या होता है?
“—मैं इसे नहीं जानता—”

कहकर क्या तुम भी हो सके उपराम?
काश कोई आए
दूर करे मेरे मन में फैला
धुमैला जाल !

मालिनी नदी के किनारे
पक्षियों-सरीखे विचरण के क्षणों में
हमने कहाँ सोचा था—
परिणाम !

या कि तथ्य कि
जो क्षण सारे उत्तरदायित्वों से मुक्त करके
हमें पवन पर झुला देता है,
वही बुन देता है
बन्धनों के गुंजलक
जो जीवन-पर्यन्त कहाँ सुलझते हैं?
काल की अन्तिम चोट के बाद भी लगता है
उलझते-उलझते रहते हैं ।

धरती पर एक छोटे-से पैर की पदचाप
युगों तक
पुनः पुनः गूँजती रहती है—
धरती के गर्भ में,
हवा की तरंगों पर,
आकाश की सीमाओं के पार
उसकी ध्वनियों-प्रतिध्वनियों को किसने मापा है?

वृन्दाएँ सींचती हैं तुलसी-पौधे
ये उनके नारीत्व की जय के प्रतीक हैं
और मैं सींचती हूँ यह बिरवा

अपने सुहाग के लिए,
पति और पुत्र के प्रति अपने
शाश्वत अनुराग के लिए।
मैं जानती हूँ—

वृन्दाएँ मेरे आचरण पर हैरान होती हैं।
किन्तु कुछ तुलसी-माँ के आदेश पर,
कुछ हृदय में बसी करुणा के वशीभूत
मुझे कुछ नहीं कहतीं।

शायद

मेरे

या सर्वप्रिय के प्रति किसी अबूझी ममता के कारण
या फिर अन्तर की
किसी भूख की उजास से
वे टुकुर-टुकुर देखती रह जाती हैं।

कड़ियों ने सीख ली हैं लोरियाँ
जो मैं सर्वप्रिय के लिए गाती हूँ
और वृन्दाएँ गुनगुनाती हैं
वही लोरियाँ
छोटे-छोटे बिरवों में
अंजुरी-अंजुरी जल सींचते हुए।
विधि ने ही मेरे भाग्य में
परित्यक्ता रहना लिखा है
पिता-सरीखे पोषक कण्व
ममता की साकार प्रतिमा बूआ गौतमी
आश्रम की सहेलियाँ
अग्रज-से शारंगरव
पशु और पाखी
सभी के मन पर न जाने क्या बीत रही होगी !

उनसे या किसी से भी मिल कर क्या होगा !
स्मृतियों में जो अनुभूतियाँ हैं
छायाओं-सी उतरती हैं !!

रंग
रेखाएँ
ध्वनियाँ...सब गड़ड़-मड़ड़
कोयलों की वह कूक
बुलबुलों की वह चिहुट
मृगशावकों की कुदानें
नदी के तट और लहरें
सब अतीत हुई पगडण्डियाँ हैं
जिनमें लौटने का साहस ही जुट नहीं पाता ।
प्रायः लगता है—
तुम्हारे मन में भी रह-रह कुछ टीस जाता है ।

भला बताओ
इतना कुछ घट जाने के बाद
मेरा किसी से क्या नाता है?
लेकिन नाते भी कब टूटते हैं?
टूटी हुई किरचों-से
अनगिनत आकार
अंजुरी से गिरती पानी की धार में
झाँकते हैं
हँसते हैं
बिसूरते हैं ।

विषैले अजगरों के सिर फोड़ता,
सिंह-शावकों से पंजे भिड़ाता

सर्वप्रिय सर्वदमन बन गया है
 वह एक प्रश्न है
 मेरे सामने
 वृन्दा माँ के सामने
 प्रश्न है निश्चिततः तुम्हारे सामने भी—।
 परम पूज्य विश्वामित्र ने
 शास्त्र और शस्त्र की शिक्षा दी है
 सर्वदमन को।

सर्वदमन एक प्रश्न है
 उनके सामने भी।
 आकाश से कोई तारा उतरे
 और प्रश्न का उत्तर दे।
 किन्तु कहती हैं वृद्धा वृन्दा माँ
 हमें अपने उत्तर भी स्वयं तलाशने हैं
 परिस्थितियों के कशाघात सहकर
 उन्हीं के सामने कठघरे में खड़े भी होना है।
 अभी कैशोर्य की सीमा नहीं
 छू पाया सर्वप्रिय
 और कहती हैं वृन्दाएँ
 विश्वामित्र ने उसे अपना सारा
 ज्ञान-विज्ञान सौंप दिया है।
 मुझे लगता है
 वह मेरे और तुम्हारे
 दर्प, अहं और प्रणय का समन्वित आकार है
 उसकी चाल में शालीनता है वृन्दा माँ की
 धैर्य वृन्दाओं का
 क्रोध दुर्वासा का !

उसका दर्प देख
 कभी मुग्ध
 और कभी भयभीत होती हूँ।
 कल ही कह रहा था सर्वप्रिय
 “मेरे पास नाग-पाश है
 जिसका उत्तर
 देवराज इन्द्र के पास भी नहीं है।
 उस बाण की काट केवल दुष्यन्त के पास है
 और—कहा मुझे गुरुवर ने, इस नागपाश के बाद
 तुम्हें सौंपता हूँ यह अग्निशलाका
 लेकिन वत्स!
 इसका प्रहार करने से तुम्हें
 पितृहत्या का पाप लगेगा।”
 वह सुनाता रहा
 और मुझ पर गहराता रहा आतंक।
 उसकी वाणी से
 टपकने लगता है क्रोध
 तो सोचती हूँ
 किसी क्षण भूडोल हो जाएगा।
 वृन्दाओं ने भी इसीलिए
 उसका नाम रख दिया है—सर्वदमन!
 अपने शस्त्र मुझे दिखाते
 उसकी आँखों में गहरा होता जाता है—
 सूनापन!
 मैं जानती हूँ
 उसके सर्वदमनकारी रूप के पीछे
 अज्ञात पिता की सन्तान होने का आक्रोश बोलता है।
 मैं हैरान हूँ
 क्यों वह मुझ पर क्रोध नहीं करता

छोटी उम्र से ही वह मेरा संरक्षक बन गया है।

तुमने तो मुझे भँवरे के दंश से
बचा कर लूट लिया था निर्मोही।
और यह मेरी ज़रा-सी आह पर
तूणीर से बाण निकाल लेता है—
सारे वृन्दावन में पुरुष-सत्ता का
एकमात्र प्रतिनिधि!
सोचती हूँ और डरती हूँ
कहीं कोई अनहोनी बात न हो जाए।
तुलसीदास की सारी व्यवस्था
हमारे ही कारण हिल न जाए।

वसन्त आया है
इसका आगमन
पिता कण्व के आश्रम से कितना भिन्न है।
वृन्दाओं ने वन बुहार दिए हैं
तुलसी के नये बिरवे हैं
पुराने पौधों में भी फूट आई हैं
फुनगियाँ!
ऐसे में प्रियंवदा-अनुसूया
मुझे कितना छेड़ देती थीं,
फागुनी हवा भी
अब मुझे रोमांचित नहीं कर पाती!
पक्षियों के गीत,
पुष्पों के रंग
पलकों पर से मौन गुज़र जाते हैं
वैसे ही, जैसे मुझे ध्यान-मग्न समझ
सर्वप्रिय हौले-हौले

कुटिया से बाहर निकल जाता है।

मेरी आँखों में घिरे आँसू

वृन्दा माँ

आकर अपने बल्कल के छोर से

पोंछती हैं

तो चेतना लौट आती है।

तुम जहाँ भी हो

हवाओं के पंखों पर मेरी पाती तुम्हारे नाम!

कमल-पत्र पर नाखुनों से उरेही

आत्मा को मिला छल

या तथ्य

या फिर छल और तथ्य दोनों ?

निर्णय इसी हवा को सौंपती हूँ—

मरुए की पत्तियों और मंजरियों की गन्धवाहक

यह हवा—

मेरा यह प्रश्न तुम तक पहुँचाए—

कि एक ओक-भर जल के लिए

मनुष्य क्यों करता है इतना छल

जब की नदियों की धाराएँ

उसके पास से गुज़र-गुज़र जाती हों

और कि पुष्पों से संचित

मधु से भरे चषक

छलक-छलक संगीत

सुनाते हों!

सोचती हूँ अपने पुत्र के लिए ही सारा भेद खोल दूँ,

सारी कथा बोल दूँ!

लेकिन भेद खुल जाने पर

अभाव की चेतना कौन झेलेगा?

यह सर्वदमन
क्रोध, घृणा और ग्लानि की
फुंकारों से
पर्वत ठेलेगा
या जलधारा में डूब कर
करेगा आत्महत्या।
भविष्यवाणी कौन करे?

भँवरे-असंख्य भँवरे
पुष्पों में लोट-लोट जाते हैं
मगर उस भँवरे की याद मुझे
आज भी वही
वसन्ती पँखुड़ी बना देती है
जिसे तुमने धनुष की कोटि से खदेड़ दिया था।
वसन्ती पराग से भरा यह जल
तुम्हारे और तुम्हारे पुत्र के कल्याण के लिए
तुलसी-चौरे में विसर्जित करती हूँ
चलूँ
कुटिया में मेरे हिय का टुकड़ा लौट आया होगा।

ग्रीष्म का यह सन्नाटा
नदी सूखकर कृषकाय हो गयी है!
पसीने से सराबोर सर्वप्रिय सामने आता है
तो धक से रह जाती हूँ
अपने को इतना अधिक थकाने की
आदत क्यों बना ली है उसने
शायद अपने अन्तर की किसी तपन को बुझाने
भरी दोपहरी में शस्त्राभ्यास के लिए
दूर विजन में निकल जाता है

अकेला!

तुलसी-चौरे को बार-बार सींचती हूँ,

कि हरा रहे बिरवा।

बिरवा हरा रहे

न सही मैं।

मेघ की फुहारें

आकाश से बरस कर—

इसे देती रहें पानी।

पिता कण्व के आश्रम में

अनुसूया, प्रियंवदा बुन देती थीं

मेरे पैरों के लिए कोमल आधार

ग्रीष्म में वे मुझे बाहर निकलने ही कहाँ देती थीं!

और यह सर्वप्रिय

सभी की बात नकारता

सर्वदमन बन गया है

नंगे सिर, नंगे पैर

कोसों दूर निकल जाता है

ज़िद्दी

आखिर बेटा किसका है!

वर्षा का धौंगड़ा क्या पड़ा

सूखी धरती को जीवन मिल गया

तुलसी के असंख्य नन्हे-नन्हे

पौधे उग आए हैं!

सर्वप्रिय के घर लौटने में विलम्ब होता है

तो बहुत चिन्तातुर हो जाती हूँ।

वृन्दाएँ बाँटती हैं मेरी चिन्ता

परन्तु माँ की वेदना तो बस
माँ ही समझ सकती है।
तुलसी माँ का आश्वासन है—
कुछ नहीं होगा री तुम्हारे पुत्र को,
मैंने उसकी कलाई में रक्षा-कवच बाँध दिया है।
मेनका और दुर्वासा की यह धरोहर
मैं उन्हें सुरक्षित एवं सकुशल लौटाऊँगी।

झींगुरों की झीम-झीम
असंख्य जुगनुओं का तारों-भरे आकाश
में कुछ ढूँढना
या फिर बादलों की घुमड़न
बिजली की कौंध
वन की हरहराहट
मयूरों के नृत्य
और पपीहे के गीत—
सभी के बीच मैं अकेली हूँ
और एक-एक दिन बीतने के साथ
अधिक अकेला होता जाता है
सर्वप्रिय!
घुमड़ते आकाश की ओर देखता है
और आँखें बचाता
कहीं दूर निकल जाता है।
मैं चाह कर भी
उसे रोक नहीं पाती!

कुटिया की छत पर
बूँदों का झरना
कई बार मुझे

वर्षा-धुली चम्पा की डाल बना देता है
बदन पर असंख्य कलियाँ मुस्कराने लगती हैं
अपनी मूर्खता पर स्वयं ही खीज उठती हूँ।
फिर उदास इतनी
कि हिया बैठ-बैठ जाता है।
हर मौसम बीतने के साथ
अकेले
और अकेले होते जाते हैं
मैं और सर्वप्रिय।

कभी-कभी
सारी सुध भूलकर
तूणीर पर ही ताल देकर
गा उठता है मल्हार
फिर स्वयं ही शर्मा कर
चुप हो जाता है।
मैं सच्चाई से आँखें चुराकर
पीठ मोड़ लेती हूँ

चलूँ गीले वल्कल हवा में डाल दूँ
सर्वप्रिय भी शायद लौटने वाला है।

शरद के वे दिन
शरद की वे रातें
याद करने से हृदय वीतरागी हो उठता है।
नहीं जानती वह सत्य था या सपना
तारों-भरे आकाश-तले
फैली यह धरती तो भिन्न नहीं है
बस रोमान्त में नहीं होती वैसी सिहरन

जीवन के समग्र अनुभवों के बाद
या फिर उम्र बीतने के साथ
ऐसा ही घटित होता होगा
सभी के साथ!

वन-बालाओं की रास
रात-भर अलहड़ता भरे गीतों की कूजन
अब भी याद आती है।
कूजों का आकाश में उड़ते निकल जाना
अब भी देखती हूँ
और आँखें थिर हो जाती हैं
मापतीं—

आकाश-गंगा का विस्तार
हर टूटते तारे को
आँखों का अर्घ्य देती हूँ
मुझे स्वयं लगता है—
अब मैं बहुत बड़ी—
बूढ़ी हो गई हूँ।
काश पूर्णिमा का चाँद
छोटा सर्वप्रिय बन कर
मेरी बाँहों में उतर आता।

मगर समय उड़ गया
चाँदनी के पंख लगाकर
आकाश में फैल कर वक्ष पे लौट आई
मेरी बाँहें!

हेमन्त आया है
जाड़ा
सर्प-सा रेंगता आया

और केंचुली मार कर बैठ गया है।
ठण्डी हवाओं से कब तक संघर्ष कर पाएँगे
तुलसी के बिरवे।
बन्द किए जा रहे हैं
कुटियों के झरोखे!
वृन्दा माँ व्यस्त हैं—
करना है—
नयी रुत के लिए सभी के वास्ते
नए वस्त्रों,
पुआल के बिछौनों का प्रबन्ध।

सर्वप्रिय कहता है—
माँ! मुझे मिले तीव्रगामी अश्व
तो हिमालय तक दौड़ जाऊँ
तुम्हारे लिए आकाश से झरते हिम को
अंजुरी में बटोर लाऊँ !
हिमानी चोटियों पर फिसलती
किरणों को संजोना चाहता हूँ
देवदार के वनों को भुजदण्डों से मापना चाहता हूँ।
या फिर नाप लूँ सारा दक्षिण-पथ
जहाँ शीत के बाण श्रीहत हो जाते हैं,
सागर अपनी उत्ताल तरंगों से
धरती के चरण धोता है।
मैं सुनती रहती हूँ
देखती रहती हूँ
अवाक्...!
और वह हस्ति-शावक-सा
झूमता चला जाता है।

पुत्र की इसी उम्र में माता-पिता हो जाते हैं
बहुत परेशान ।

मैं अपनी चिन्ता किस से कहूँ
पुत्र की शिराओं में उफ़नते रक्त
की सुगबुगाहट
कैसे अनुसनी करूँ?
सरदी से ठिठुरता
सूख गया है तुलसी-वन
मानो इसकी हर टहनी को
दुष्यन्तों ने पहचानने से
इनकार कर दिया हो ।

नाना ने सर्वप्रिय के लिए
जो मृगछाल भेजी थी
धृष्ट ने उसे अपनी ध्वजा बना लिया है
और अपना चैल मुझे ओढ़ा कर
अश्वत्थ के नीचे जा सोता है ।

शीत की चुभन से
या फिर धरती-आकाश में कौंधती
उलझनों के कारण
सो नहीं पाता
तो शस्त्रास्त्रों का अभ्यास करने लगता है ।

घमण्डी !

बार-बार कहता है—
देवराज हों या दुष्यन्त
या फिर दोनों एक-साथ,
धनुष की प्रत्यंचा टंकार कर

उन्हें चुनौती देना चाहता हूँ,
चारणों से अपनी ही वीरता की कथा सुनने वालों के
कौशल की माप
परखना चाहता हूँ।
शिक्षा और अभ्यास को एक बार तो
कसौटी पर कसूँ
माँ! तुम्हारे आशीर्वाद से
आर्यावर्त में एक नया इतिहास रचूँ!

पुत्र को जवान होता देख
जो सुख मिलता है
वह हृदय के किस कोने से उपजता है?
सुना है—
पिता-पुत्र में अपना रूप देखकर
विमुग्ध होता है
और पलक की प्रत्येक झपकन के साथ
संन्यास की ओर बढ़ता जाता है
और माँ
उलझती चली जाती है
गृहस्थ और जगत की लन्तरानियों में!

रेख फूटने लगी है
सर्वप्रिय के चेहरे पर,
ध्वनि से लुप्त होता जा रहा है
बाल-सुलभ लावण्य!

शिशिर ने बदल दिए हैं
धरती और आकाश के रंग
शीत की अति के बाद

पौधों की सिहरन
पुष्पित होने से पूर्व की
मादक अनुभूति...
तुलसी के बिरवे हरे होने लगे हैं
पक्षी चुनने लगे हैं
घोंसलों के लिए तिनके
हवा फूलों की कलियों को
लहरा-लहरा जाती है।

मेरा क्या है?
मैं तो सोचती रहती हूँ—
सर्वप्रिय पर फाल्गुनी हवा
क्या हर्ष, क्या दर्द
दिखलाती है।
सर्वप्रिय का वृन्दाओं से आँख न मिलाना,
मेरी भी हर बात का संक्षिप्त उत्तर देना।
मुझे मोद और चिन्ता से भर देता है
इस वातावरण में हमीं दो अपवाद हैं
विधाता की लीला के
खिलौने भी
दर्शक भी!

उफ़!
हिमानी हवाएँ
मूसलाधार वर्षा
और आशा-भरी चकाचौंध
कि जाड़ा अब अधिक देर नहीं
रुकने वाला!
दो मास की ऋतु से ही है ऊब जाना

मनुष्य की नियति है
वरदान या अभिशाप?
कौन कहे?
शीत कुहरे
धुन्ध
के ये दिन
आखिर बीत जाएँगे
तुलसी के बिरवों में फिर फूटेंगे
अँखुए!
किन्तु जो रीत गए—
वसन्त और शरद के दिन
फिर लौट के कहाँ आएँगे !

और जो अनुभूतिहीनता उपजती है
विकट परिस्थितियों से,
जिसमें बोध होता है न मास का, न ऋतु का,
उस ऋतु को क्या नाम दें?
शकुन्तला-दुष्यन्त
अब पीछे
छूट रहे हैं,
बंजारे दिन नए इकतारे बजाते
चले आ रहे हैं।

—: अष्टम सर्ग :—

प्रकम्पन

कुटिल सत्ताएँ
अधिकार जानती हैं,
नहीं सुनतीं
साधारण जनों का चीत्कार
किन्तु काल करवट लेता ही है।

युगों और कल्पों की बात छोड़
इस समय हमें चलना है
शकुन्तला के साथ।
वह चले, न चले,
घूमेगा कालचक्र,
परिवर्तित होगी व्यवस्था।

निशि-दिन बढ़ती ही जाती है
महामात्य की चिन्ता।
प्रजा-क्षोभ के समाचार
दिशि-दिशि से आते।
सीमा-प्रान्तों के उपद्रव
क्यों प्रशमित न होते।

जनपद अंकुशहीन

राज्य-कर नहीं भेजते।

सेनाएँ श्रीहत,

शत्रु को त्रस्त न करतीं।

दण्ड-व्यवस्था

लगती सारी धरम-भरम सी।

अन्तःपुर बस

षड्यन्त्रों का केन्द्र बना है।

सभी रानियाँ अपने-अपने

स्वप्न संजोती।

अपना-अपना असर

बढ़ाने को रजवाड़े

जाने कब, कैसी विपदाएँ

पैदा कर दें।

चुप रह देख रहे राजगुरु

सब अनहोनी,

यज्ञ-याग में व्यस्त

कहाँ मेरी सुनते हैं?

कोई हो राजा

सब के वे पूज्य रहेंगे,

आशीर्वाद देकर

आश्रम में मग्न रहेंगे।

लेकिन जिसका आलोक

धरा को उर्वर करता,

और ज्योत्सना सिन्धु-वक्ष पर

इठलाती थी,

मर्यादा जिसकी गाथाएँ है पवन गुँजाता,

चिन्ता मात्र मुझे, कैसे अब बच पाएगी।

राजा की सन्तान-हीनता
 विकट समस्या,
 हर कोई सिंहासन
 हथियाने को आतुर है।
 सबने अपने-अपने मन्त्री
 नियुक्त किए हैं,
 धरती को कोई वात्स्यायन
 मथने वाला है।
 काश न राजा कभी
 कण्व के आश्रम जाता,
 और न उस अल्लुड़ लड़की का
 किस्सा बनता।
 लेकिन टल सकता है कैसे
 विधि का लेखा,
 कौन आज तक पढ़ पाया
 माथे की रेखा!
 ऋषि-कुल सारे रुष्ट हुए हैं
 कण्व-काण्ड से।
 जाने कैसी बातें,
 कहाँ-कहाँ फैली हैं।

राजतन्त्र का यत्न
 फलित होता न कोई,
 अफवाहों को सभी लोग
 कह देते—सच हैं।
 ऋषि-कन्या ने राज-सभा में
 जो कह डाला,
 फैल गया जाने कैसे वह सागर-तट तक।
 उसकी बातें लगती सब को

सच ही सच हैं,
राजा की 'न' पर कोई
विश्वास न धरता।
फिर राजा भी स्वयं
स्पष्ट कुछ कह न पाते,
अन्तर का सच उन्हें
सालता धीमे विष-सा।
लगता दीमक चट कर बैठे
पर्वत सारा,
इसे गिरा सकता हल्का-सा
पवन-झकोरा।
विद्रोही सब संगठित हुए
उपद्रव करते हैं
राज्य-व्यवस्था को
निर्भय ठेंगा दिखलाते।
भोगलिप्त अधिकारी
सब के सब उत्कोची,
बिना महावत के गज-सी
करते मनमानी।
राज-मुद्रिका देख
लोग मुस्का देते हैं,
या फिर आँखों से
प्रकटाते भाव घृणा के।

प्रजा यहाँ की
सत्य, बहुत धीरज वाली है
छोटी-मोटी बातों को
लेकर नहीं उलझती।

लेकिन जब-जब स्तम्भ
आस्था के ढह जाते,
छत को छाए रखना
बनता बड़ा कठिन है।

लोकथाएँ कहतीं कच्चे
अधपके घटों से
गहरे कुओं से जल खींचा करते
सतधारी।
पर इस युग में सत की आन
बचा रखेगा कौन,
कौन इतना सतधारी?

गुप्तचरों ने एक नई सूचना दी है—
कोई किशोर विद्रोही युवाओं का नेता है।
कौन, कहाँ का वासी,
कोई नहीं जानता।
'सर्वदमन हूँ' अपने को घोषित करता है।
वृद्धाओं के चरण स्पर्श करके कहता है—
शपथ मुझे मैं मानचित्र सारा बदलूँगा।
गन्धवाही पवनों पर
जो मटियाली छाया,
अरुणहास लेकर मैं उससे युद्ध करूँगा।
एक-एक अन्यायी यहाँ
अब दण्डित होगा,
देवराज भी आएँ तो दो हाथ करूँगा।

एक बार यदि जनता को यह राह मिलेगी,
होकरके संगठित अगर वह वार करेगी,

भूप चित्रशाला में बैठे मस्त रहेंगे,
बाहर बदलेगा तन्त्र, व्यवस्था नूतन होगी।
प्राणवान करती बहती जो जल-धाराएँ
वही बदल कर कभी विषैली व्याली बनतीं।
अग्नि धरा में रहे संयमित, जीवन देती,
लावा बन फूटे तो तहस-नहस सब होता।

सर्वदमन है कौन, कौन उससे जूझेगा?
कहते हैं वह रक्तबीज-सा सिद्ध किए है।
शत कबन्ध जब रण में आ जूझा करते हैं,
कंधों पर सब के एक शीश उसका दिखता है।

कहते सब-यह राज्य बना गढ़ अन्यायी का,
गूँगों ने मानों लाखों जिह्वाएँ पाईं।
मस्तक जो युग-युग से मौन झुका करते थे,
पुच्छल-तारों-से नयन लिए शंकाएँ करते।
अलग-अलग प्रान्तों में बाँटी जनता-क्यों कर
आज परस्पर ऐक्य भाव की बातें करती?
लगता है सागर भी उमड़-उमड़ कर कहता—
वृद्ध हिमलाय मेरा युग का पहचाना है,
नदियों और हवाओं की बाँहें फैला कर—
हमने सदा एक-दूसरे को जाना है।
मैंने अपना अंशदान दे जन्म दिया था,
मुझसे विलगाए उसको, यह किसका साहस है?
रोष हमारा उमड़ पड़ा तो ताण्डव होगा,
दशों दिशाओं के हाथी झल्ला उठेंगे।
शेषनाग थिर रख न सकेंगे अपने फन को,
गंगा-यमुना का अजस्र जल भाप बनेगा।
मर जाएँगी ऋतुएँ, त्राहि-त्राहि मचेगी।
धरती सत संकोचेगी, ज्वाला उगलेगी।

भाषा सब की अलग सभी को बतलाया था,
जाति, वर्ण, कुल भेदपूर्ण हैं समझाया था।
अलग-अलग सब मनुज, धर्म मूलतः विरोधी,
इतिहासों की गलियाँ सबकी अलग अलग हैं।
शास्त्र लिखाए, जारी आज्ञा-पत्र किए थे,
युग-युग तक हर ठौर डौड़ियाँ पिटवाई थीं।

मैं भी कहता : भाग्यहीन ये मूर्ख सभी हैं,
युग-युग की इनकी बान कभी क्या टूट सकेगी!
सुनना, झुकना थी जिनकी सीमित मर्यादा,
शीश उठाकर प्रश्न करेंगे सोचा न था।

भूल गया था ऊपर की परतों के नीचे
धारा यहाँ बहुत गहरे कोई बहती है,
विन्ध्याचल के बावजूद यह उमड़ घुमड़ कर
सेतुबन्ध का जल हिमशिखरों तक पहुँचाती है।

सब कहते हैं भूत हमारा मरा हुआ था
वर्तमान भी लगता उनको अंधकारयुत।
बस एक बात भावी की सब के मुख पर रहती,
आने वाली पीढ़ी के हित सपने जागे।

चरखे वाली बुढ़िया की आँखें भी मुझको
कौंध-कौंध कर सन्नाटे में विकलाती हैं,
महाकाल के पैरों की पदचाप
मुझे लगता है निश्चित—
युग की धारा में चाहती अब परिवर्तन।
एक समय का चक्र पूर्ण हो चुका धरा पर
और दूसरा लगता बस आने वाला है।

इतने में प्रतिहारी ने आकर बतलाया
 महाराज ने आर्य! आप को स्मरण किया है।
 देवराज ने महाराज को पाती लिखकर
 देवलोक आने का आमन्त्रण भेजा है।
 महामात्य ने सोचा—यह अच्छा अवसर है
 महाराज का देवलोक में मन बहलेगा,
 असुरों से संग्राम अगर होना निश्चित हो,
 नृप के सोए बाण जगेंगे अंगड़ाई ले।
 षड्यन्त्रों के बीच यहाँ एकाकी रहकर
 शायद फिर से लीक बिठा पाऊँ गाड़ी की!
 या फिर इन्द्र स्वयं सुलझाएँ इस गुत्थी को
 सिरा न कोई जिसका आता मेरे वश में
 घटनाएँ कुछ घटीं, धिरीं इतनी तेज़ी से
 लगता सबकी मति बेचारी उलझ गई है।

धैर्यशील यह धरा

तपस्विनी

महाकच्छप-सी

मन्दर का सारा भार,

चुप-चुप सहती है।

झंझावातों को महाकाल की साँसें लखकर
 प्रलय सिन्धु को भी करबद्ध नमन करती है।
 लेकिन जाने कब किस अन्तर्निहित शक्ति से
 फण फैलाए शेषनाग-सी करवट लेती,
 सत्ता के सारे महाविटप सहमूल उखड़ते,
 धरती फिर अपनी गति से चलने लगती है।
 मानो कोई संन्यासी अगनित कल्पों तक
 अन्ध गुहा में आत्म-साधना करता रहता।

कभी किसी दिन नीचे घाटी में आता है
और बदल आमूल व्यवस्था,
फिर चल देता!

हर युग में कोई द्रष्टा
चित्र देखता है ऐसे ही
व्यक्ति की टूटन
समाज की टूटन बन कर
जिस दिन संस्कृति को
खण्डित करने लगती है,
धरती सुनती अपरिहार्य
आहट कम्पन की।

—: नवम सर्ग :—

अन्तराल

नर-नारी के निजी निर्णय-
अनिर्णय के कथांश
निश्चिततः बन जाते हैं
सकल राष्ट्र के प्रश्न ।
व्यक्ति, देश, काल
सीमाएं खोकर पुराण बनते हैं
कितने महत्वपूर्ण होते हैं
वे निर्णय
जो हिला देते हैं सामाजिक संरचना !

सुख के कल्प-कल्प
पलक झपकते बीत जाते हैं,
दुःख के छोटे-छोटे क्षण भी
कल्प-सरीखे अन्तहीन हो जाते ।

अप्सरियों के नृत्य-गान
मादक आमन्त्रण
राजा के हित अर्थहीन

सुरपुर का कानन ।
बैठा रहता था गुमसुम
वह घायल मृग-सा
भाव-शून्य आँखें,
मन रहता धुआँ-धुआँ-सा ।

युद्ध-क्षेत्र में कौशल उसका
चकित सभी को करता
युद्धजयी लेकिन मन-ही-मन
हारा-हारा रहता ।

निपट अकेले में
चित की पंखुड़ियाँ खुलतीं
भूली-बिसरी तस्वीरें भी
झिलमिल करतीं ।

क्या उद्देश्य जीवन का
युद्ध यह किसके कारण,
मिला कभी क्या जीवन में
अंजलि-भर निजपन ?

बस एक बार कण-भर
मधु का जो स्वाद चखा था,
गंगा-जल सा शीतल,
मोती की आभ लिए था ।

साकार पुलक का स्पर्श,
कूक मोहक कोयल-सी
अरुण कमल की गंध,
उड़ानें राजहंस की ।

खोकर भी क्या खो पाई?
मेरे भीतर बसती हैं
मेरे रोने-हंसने से
रोती-हंसती हैं!

मनुज जगत के जालों में
ऐसे फंस जाता
जीवन का क्या मर्म—
भूलता, खुशी गंवाता।

मैंने जो कुछ किया
बची क्या आन उसी से?
राजकीय ध्वज की
मर्यादा या शान उसी से?

खंडित मन की विजय
विजय कब कहला पाई?
जब-जब जय-रव सुना
आह अधरों पर आई!

सभी जानते कारण
क्या नृप को समझाएं,
मन के घावों पर कैसे
अनुलेप लगाएँ

देवत्व मिला जिनको
जीवन का वैभव पाते,
मन का इन्द्रधनुष
दृग उनके देख न पाते !

धरती पर जब कभी
देवता कोई आया
हुआ मुग्ध सावन के
मेघों में भरमाया ।

कभी हिमानी शिखरों पर
आकर सो जाता,
गीत गडरिए का सुनकर
सुध-बुध बिसराता ।

बस रहा निरखता किरणें
झिलमिल ओस-कणों में,
अप्सरियां करतीं नृत्य
सरित की कलकल लय में ।

एक बार जब राजा,
बैठा था प्रांगण में,
विधि की विडम्बना
सोच रहा था मन ही मन में ।
अनाहूत 'नारायण' जपते नारद आए
बोले—आर्य, चलें
सुरपुर की शोभा निरखें ।

जाने क्यों मेनका बनी गुमसुम रहती है
कहते हैं—वह भी
धरती पर हो आई है!
जब से लौटी,
भूल गई सब गायन-नर्तन
पा लिया निगोड़ी ने

नर की जाया-जैसा मन !
 मैं भी रमता-रमता जब-जब गया वहाँ पर
 कुछ दर्दिले राग
 जग उठे, इस वीणा पर ।
 उठिए, राजन चलें
 मेनका के हो आएँ
 शायद पीड़ा बँटे
 हृदय हल्के हो जाएँ !
 भूल चुके हों पथ तो
 चलिए पथ दिखला दूँ
 मेरा क्या है—
 वीतराग रमता जोगी हूँ !

नारद के शब्दों में
 कुछ ऐसा जादू था
 'नारायण' सुनता भूप चल दिया
 सम्मोहित-सा ।

नृप ने देखा—
 प्रासाद सुनहला
 हुआ मटीला,
 ऊँचा कलश उपेक्षित
 भय, संशय उपजाता ।
 लगता अलिन्द पर
 काली छाया घिर आई थी
 या वसुधा हो शोकग्रस्त
 उन्मन बैठी थी ।

मेनका नहीं अप्सरा,

धरती की शोकाकुल नारी,
ऋषि-आश्रम की कृष तपस्विनी
तपोनिरत थी।

काली आँखें—

गहरी इतनी—

हृदय चीर जाती थीं।

पर अपने में ठगी-ठगी-सी

वीतराग बैठी थीं।

उघड़ी पलकें

लेकिन अखियाँ नहीं देखतीं कुछ भी

पार क्षितिज के टिकी दृष्टियाँ

खोया अपना कुछ खोज रही थीं।

आश्चर्य-चकित घबराया-सा नृप

नयन झुकाए लौटा

मन ही मन कहता—

नारद भी रहा हृदय का खोटा।

‘नारायण’ कह, वीण बजा कर

ऐसे लुप्त हुआ है

जैसे अग्नि ज्वाला में

घनसार भस्म होता है।

अभिप्राय लेकिन कुछ तो

होगा निर्मम ज्ञानी का,

मुझे मेनका के घर लाना

कौतुक मात्र नहीं था।

लग रहा मुझे—

मेनका-हृदय में तीक्ष्ण शूल गड़ा है

उससे उपजा दर्द

बहुत गहरा है, बहुत बड़ा है।

कुछ भी हो,
अब नृप का मन इतना उपराम हुआ था
और अधिक आतिथ्य इन्द्र का
सहना बड़ा कठिन था।

बात सुनी तो देवराज भी
मुस्काए, यूँ बोले—
धरती के मानुख ही
धरती के प्रश्नों को खोलें।
किन्तु मित्र !

जो हुआ, और
जो कुछ होने वाला है,
विधि की इच्छा से तुझ हित
सुख ही लाने वाला है।

अर्ध रात्रि से पूर्व
ऐरावत प्रस्तुत होगा,
पौ फटने से पूर्व
तुम्हें धरती पर पहुँचा देगा।

व्यक्ति का अंतर जब-जब
जाग्रत होकर
भावी की चिन्ता करता है,
व्यक्ति-व्यक्ति की कड़ी
क्रान्ति का कारण बनती।

—: दशम सर्ग :—

नवोदय

✓ हर कथा का दैत्य
अन्त में हारा करता
अन्धकार के बाद प्रभाती किरण नाचती ।

देखें कथा हमारी
बढ़ती कौन दिशा में
भावी क्या है?
यही मनुष्य को ज्ञात नहीं है । ✓

✓ ऐरावत गज चला गगन में
बादल-सा तेज घुमड़ता
मंथर-कभी
कभी तूफानी
गति से आगे बढ़ता ।

धरती पर रखते पैर
उठाकर सूंड
वह जब चिंघाड़ा,
क्षण-भर भूडोल हुआ,

भय से भर काँप उठा वन सारा ।
 पक्षी डर से चीख उठे
 नीड़ों में शावक जागे
 मृग मानो विक्षिप्त
 रपटते दिशा-ज्ञान खो भागे ।
 पर्वत, नदियाँ, मरुस्थल, वन
 लौंघता चला जाता था,
 पथ के अश्वत्थ पटक भूमि पर
 ✓ घोर नाद करता था ।

✓ किन्तु अचानक क्या हुआ
 रास्ते में बिजली-सी कौंधी
 मरुस्थल की सारी रेत
 उड़ा ले चली भयंकर आँधी ।
 ऐरावत जो दाँतों से
 दृढ़ पर्वत ठेला करता,
 देवदारुओं को तृण-सा लख
 मस्ती में खेला करता,
 उछल घाटियों से
 हिमगिरि के शिखरों को छू लेता,
 और घूम कर पुनः घुमड़ता,
 क्षण में दिशा बदलता ।
 जिसने गति बस एक
 अग्रगति ही जानी थी,
 जिसकी थिरता शेषनाग ने भी
 जानी, मानी थी,
 वही धीर जा गिरा
 पटखनी खाकर योजन पीछे
 और महावत दूर कहीं—
 गह्वे में गहरे, नीचे । ✓

दुष्यन्त स्वयं भी जाने ✓
कितनी दूर कहाँ जा गिरता
यदि ऐरावत ऐसे में
अपनी सुध खो देता।
महाबली ने गिरते-गिरते भी
निज आन निभाई,
नृप को सारे चक्रवात में आँच न आई।

खिसिया कर बोला ऐरावत—
मारुत कर गया ठिठोली
चलो विजय है आज उसी की
हार हमीं ने पी ली।
राजा लेकिन रणविद्या का
कुशल पारखी भी था
समझ गया वह तेज हवा का
झोंका मात्र नहीं था।
किसी विरोधी ने उसका पथ
बरबस रोक दिया था
बाण चलाकर ऐरावत को
पीछे ठेल दिया था।
धनुष हाथ में पकड़
युद्धहित सन्नद्ध बैठा
लगा देखने—
किसने पहुँचाई पथ-बाधा। ✓
करनी पड़ी न किन्तु देर तक उसे प्रतीक्षा
'लगा आज ही, सफल हुई है
मेरी शिक्षा—'
कहता मानो अपने से ही युवक सलोना
युवक भी क्या,
लगता नृप को अल्हड़ मृग-छौना। ✓

अधरों पर मुस्कान,
 नयन में सात्विक चितवन
 चिन्तारेखा से मुक्त भाल,
 आभायुत आनन।
 लगा क्षितिज पर भोला-भाला
 अरुण उगा है,
 किसी सती के माथे का
 टीका उमगा है।
 दुष्यन्त ठगा-सा रहा देखता
 उसको दो क्षण,
 मस्त सिंह-सी चाल बनी
 दृग का आकर्षण। ✓

सुध सँभाल राजा बोला—
 हो कौन बताओ।
 मेरा पथ रोका क्यों
 कुछ कारण समझाओ।
 अन्यथा बाण मेरे धनु का
 पथ साफ करेगा,
 भोले बालक तुझको तो भीषण दण्ड मिलेगा। ✓

“ओह! दण्ड-उद्घोष!
 समूचे आर्यावर्त में
 फैलाते फिरते राजा के नौकर निशि-दिन
 अच्छा हो जाओ पलट
 बुलाओ नृप को जाकर।
 प्रत्यंचा पर
 बिन कारण बाण चढ़ाना
 मेरी आन नहीं है।
 लेकिन मेरी ओर उठे जो शस्त्र

उसे अकट रहने दूँ
 शपथ माँ की—
 यह मेरी बान नहीं है।”
 कब झपकी उसने पलक,
 और कब बाण चढ़ाया
 क्या हुआ निमिष में
 राजा को कुछ समझ न आया।
 नृप के कर में धनुष
 टूट कर झूल रहा था,
 युवक सफलता पर मुस्काता
 फूल रहा था।
 “सुन राजा के भृत्य!
 यह वर्जित प्रदेश है
 वृन्दाओं का देश यहाँ से
 शुरू होता है।
 इस समय यहाँ
 मैं प्रहरी हूँ, कर्तव्यनिरत हूँ,
 अविलम्ब पलट जाओ—
 तुझको आज्ञा देता हूँ।”

अब तक ऐरावत भी
 काफी संभल चुका था
 और महावत भी आसन पर
 आ बैठा था।
 दुष्यन्त बदल कर धनुष
 चपल बालक से बोला—
 धृष्ट! मूर्ख!
 तू नहीं जानता फल क्या होगा।

बाण बाण से कटते थे
 दो योद्धाओं के

एक दूसरे के कौशल पर मुग्ध हुए थे।
मानो अपने शस्त्रास्त्र
वे परख रहे थे,
कौन वीर कितने पानी में
आँक रहे थे। ✓

ढलती जाती रैण
भूप ने मन में सोचा—
व्यर्थ यहाँ रण,
इससे कोई लाभ न होगा।
लगता कोई भेद निहित है इस घटना में
लगता दोनों ओर स्वयं मैं ही लड़ता हूँ।
इसे पाश में बाँध
नगर को ले जाऊँगा
क्या रहस्य है इस होनी में
पहचानूँगा। ✓

धकधक करता बाण
भूप ने धनु पर रखा,
उधर युवक ने अपने मन ही मन यह सोचा—
इसे हस्ति के सहित बाँध कर ले जाऊँ तो?
रणकौशल का साक्ष्य
यह माँ को दिखलाऊँ तो?
मेरी ही चिन्ता में बाट निरखती होगी
कुटिया के बाहर खड़ी भयातुर,
आकुल होगी।
पाश-विदारक बाण अग्निमय
धनु से छूटा,
ऐरावत भी घबराकर के कुछ पीछे थिड़का। ✓

कुशल महावत भी घबराया देख रहा था
कौन वीर ऐरावत को ऐसे ठेल रहा था।

राजा कुछ विस्मित
कुछ लज्जित, कुछ सम्मोहित,
पराभूत हो, रहा देखता विधि का कौतुक।
युवक किन्तु हैरान—
बाण कुछ कर न पाया,
रज्जु-सरीखा गिरा,
शत्रु को बाँध न पाया।

नृप भी था हैरान—
श्रीहीन हुआ क्यों बाण,
कि जैसे उसको करके नमन
चरण में लुढ़क गया था।

असफलता लख युवक
गरुड़-सा तड़प उठा था
वन की भीषण ज्वाल-सरीखा
हहर उठा था। ✓

यही कहा था गुरुवर ने—
तेरा अकाट्य यह बाण
बस दुष्यन्त के सम्मुख
श्री अपनी खो देगा
वज्र-सरीखा अस्त्र
बनेगा नील-कमल-सा।

सो पहचाना—
जब सैनिक कुछ भी कर न पाए,
सर्वदमन को दंडित करने राजा आए।
मगर बता दूँ नृप—
बस इतनी सीमा तेरी

इसके आगे अंगुल-भर न बढ़ना वैरी।
मेरा प्रिय
जनरौरवास्त्र—
धधकती अग्निशलाका
तुम्हारा पथ रोधेगी,
बन कर काल कराल
इस घड़ी युग बदलेगी।
आज मुझे उसका आश्रय लेना ही होगा
चाहे पितृहत्या का
दारुण शाप लगेगा। ✓

पवन-वेग से सर्वदमन
कुटिया को भागा,
अपना अस्त्र अमोघ
तुरंत लेकर लौटेगा।

उधर वृन्दाओं ने मैया को बतलाया
कुछ ने जाकर
शकुन्तला को जतलाया—
सर्वदमन ने आज
न जाने किसका हाथी रोक लिया है,
लगता, सुरपुर के देवराज से
उसने संगर मोल लिया है।
बोली शकुन्तला—
जाकर उसको समझाती हूँ
भावुक है!
मैं अपने संग लिवा लाती हूँ।

लेकिन वृन्दा माँ बोली—
बेटी रहने दे,

जो करता है, स्वेच्छा से उसको करने दे
पहले भी क्या किए तुम्हारे
कुछ हो पाया?
काल सदा अपनी इच्छा से चलता आया।
लगता मुझ को—
आज नया युग करवट लेगा
अरुण तुम्हारा
आज स्यात् अमिताभ बनेगा। ✓

उधर शकुन्तला ने देखा
निज हिय का टुकड़ा
धनुष हाथ में लिए वेग से भागा जाता
घावों से बहता रक्त,
दृगों में क्रोध उफ़नता
आवेशयुक्त स्वर में माँ से कहता जाता था—
लेकर अकाट्य सब अस्त्र
धनुष पर आज चढ़ा दूँ
दुष्यन्त नामधारी राजा को पाठ पढ़ा दूँ। ✓

नारद फिर नभ में प्रकटे
मृदु स्वर में बोले—
हो शान्त वत्स—
ढलती है जो रैण
उसे यूँही ढलने दो
कभी काल को अपनी गति से भी चलने दो।
शान्त कभी रह
महाकाल की इच्छा निरखो
सृष्टि-विटप को
नैसर्गिक इच्छा से फलने दो।
कमल-पत्र पर लेख
रश्मियाँ लिख देतीं जब

धरा-गगन को निकट बुलाकर,
अग्निबाण लाखों कब उसे
मिटा पाते हैं?
युग जाते कितने बीत
सिंधु में ज्वार उठाकर
चन्दा की शीतलता को
क्या वे हर पाते हैं? ✓

देखा सबने राजा,
वृन्दा माँ के चरणों में धर मुकुट
अश्रु की धार बहाता।
वृद्धा का कर देता आशीष
शुक्र दिपता, मुस्काता। ✓

सर्वप्रिय देखता—
शकुन्तला भौचक्की-सी
जहाँ खड़ी थी
खड़ी रही—
खोई-खोई-सी।
वृद्धा माता मुस्काई
धीमे से बोलीं—
मानो उलट रही हों तुलसीदल की झोली—
महाराज! यह बालक नटखट
पुत्र तुम्हारा
सर्वदमन प्रख्यात
काल की गति का मारा।
मगर समय ने इसे
जिस तरह गढ़ा-सँवारा,
ठेलेगा अवरोध,
बहेगी नूतन धारा। ✓

खड़ा रहा चुप पुत्र,
 पिता को धैर्य कहाँ था!
 पूरी उम्र गँवा कर
 निज निधि को पाया था!
 रोम-रोम आकुल
 आँखों से आँसू छलकें
 ऐसे क्षण रह पाया
 क्या कब कोई सँभल के?
 बादल-जैसा झूम
 पुत्र को अंक समेटा
 सुबक उठा रणधीर पिता
 ज्यों बालक छोटा।
 उठा नयन राजा ने अपनी प्रिया निहारी,
 क्षण में हुआ प्रबोध—
 कालगति किसने टारी?

दोनों गूंगे बने
 कहाँ से वाणी लाएँ ?
 किसको देवें दोष,
 किसे निर्दोष बताएँ ?

ध्यान बँटा सबका
 मुनिवर दुर्वासा आए
 बोले—उस बुढ़िया ने कैसे खेल दिखाए!
 राजन! पत्नी-पुत्र सहित
 हस्तिनापुर जाओ
 राज्य संभालो,
 कर्म करो,
 निज धर्म निभाओ।

राजा के, पर, नयन
 क्षितिज के पार गड़े थे,
 निरख रहे कुछ
 देश-काल की रेख-परे थे।
 तारा-पथ के परे चमकते अनगिन तारे
 सूर्य-धरा से बहुत बड़े,
 फिर भी बेचारे!
 फड़क रहे थे अधर,
 चुका शब्दों का आकर,
 जाने कैसी काल-गुफा में
 सोए जाकर!
 आँखें कहतीं—
 “मैं मन से संन्यस्त हुआ हूँ
 अपने सारे अधिकार पुत्र को सौंप चुका हूँ।”
 तुलसी-चौरे पर
 छाप हाथ की छोड़
 शकुन्तला
 पति-पथ जाने को तत्पर थी।

सर्वदमन राजा हुए
 भरत नाम प्रख्यात
 युग बदला,
 मौसम बदले,
 बदल चले दिन-रात।
 ऐरावत भी लौट चला
 करके अपना काम,
 नारद अंतर्द्धान हुए
 जपते नारायण-नाम।
 दिक्पालों ने वंदन किया,
 नदियों ने गाए गान,

पथ की धूल बुहारता
 चला मलय-पवमान ।
 चरखे वाली बुढ़िया नभ में
 चरखा कात रही थी
 झलहल करती अरुणाभा
 सरिता में तैर रही थी ।
 सब ने अंजुरियों में नीर भरा,
 आचमन कर—
 मंगल गाया,
 अरुणोदय हो रहा—
 अर्घ्य दे सब ने सीस नवाया ।

नयन-निलय में
 पावन कुम्भ
 कुम्भ में शीतल निर्मल नीर
 कुम्भ के मुखड़े पर अभिराम
 नील पल्लव ज्यों शान्त घनश्याम
 अंजुरी पद्मयुक्त अरुणाभ
 माँगे सब के हित कल्याण!!!

होती कितनी युग की सीमा ?
 बित्ता-भर तो होता है मानव का जीवन
 लेकिन कभी-कभी
 बस अनायास
 बदल जाते मन्वन्तर
 अंधकार का मिटना पृथ्वी पर निश्चित है
 अरुण उदय होता
 सदा रजनी के क्षय पर ।

□□□

Shri Rajinder Singh

9469005594

0191-2553167

NUCOXIA-60

3572

94191-49610

R's V.I.D. F.VX 5373295

6731

2504920

9419084300

94191-06741